

इकाई 01 – आगस्त काँत August Comte (1798–1857)

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 आगस्त काँत (1798–1857)
 - 1.2.1 जीवन परिचय
 - 1.2.2 उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि
 - 1.2.3 मुख्य विचार
 - तीन अवस्थाओं का नियम
 - विज्ञानों का संस्तरण
 - प्रत्यक्षवाद
 - 1.2.4 समकालीन समाजशास्त्र पर काँत का प्रभाव
- 1.3 सारांश
- 1.4 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.5 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर
- 1.6 सन्दर्भ ग्रन्थपन
- 1.7 सहायक उपयोगी पुस्तकें
- 1.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में समाजशास्त्र के संस्थापक आगस्त काँत के मुख्य विचारों पर विचार-विमर्श किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपके द्वारा सम्भव होगा।

- (i) आगस्त काँत के जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत करना,
- (ii) उनके सामाजिक परिवेश को बताना,
- (iii) काँट के मुख्य विचारों का विश्लेषण, तथा
- (iv) समकालीन समाजशास्त्र में काँत के विचारों का प्रभाव को बताना।

1.1 प्रस्तावना

मनुष्य सदैव से अपने व्यवहार के स्रोतों के बारे में जानने को उत्सुक रहा है। मानव व्यवहार और मानव समाज का क्रमबद्ध व व्यवस्थित अध्ययन प्रारम्भ हो गया है।

इसका प्रारम्भ अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध समाज में देखा जा सकता है। यह परिवर्तन प्रबोधकाल (enlightment) फ्रांसीसी क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति द्वारा आये थे। जिस प्रकार प्राकृतिक वैज्ञानिकों ने जिस तरह जीवन तथा प्रकृति के रहस्यों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार समाजशास्त्रियों ने सामाजिक जीवन की जटिलताओं का विवेचन करने का प्रयत्न शुरू किया और इस प्रकार एक समाज विज्ञान का जन्म हुआ। समाज का व्यवस्थित विश्लेषण का अध्ययन हमने ऑगस्ट कौंत से शुरूआत की है। कौंत को समाजशास्त्र का संस्थापक माना जाता है, उन्होंने ही इस समाज विज्ञान को समाजशास्त्र की संज्ञा दी।

1.2 आगस्त कौंत (1798–1857)

आगस्त कौंत का जन्म 1798 में हुआ था। उस समय फ्रांसीसी क्रान्ति अपने चरम पर थी। उस वक्त ऐसी बहुत सी गतिविधियाँ घटित हो रही थी जिन्होंने आधुनिक विश्व की नींव रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद यूरोप की सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। आगस्त कौंत के विचारों को अच्छी तरह से समझने के लिए हमें उनके समय के लोगों तथा समाज के सामने आने वाली समस्याओं को ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है। इसके लिए हमें उनके जीवन परिचय का अध्ययन करना होगा।

1.2.1 जीवन परिचय (सामाजिक पृष्ठभूमि)

आगस्त कौंत का जन्म (19 जनवरी 1798) एक कैथोलिक परिवार में मौटपेलियर फ्रांस में हुआ था। उनके माता-पिता फ्रांस की शाही सत्ता के समर्थक थे। फ्रांस के एक सर्वाधिक प्रतिष्ठित शिक्षा संस्थान, ईकोल पॉलीटेक्निक (Ecole Polytechnic) में उन्हें दाखिला मिला था। यहाँ के अधिकतर विद्वान गणित तथा भौतिकी के प्रतिष्ठित प्रोफेसर थे। उनकी समाज के अध्ययन में कोई विशेष रुचि नहीं थी। लेकिन युवा कौंत फ्रांसीसी क्रान्ति के कारण सामाजिक अव्यवस्था के प्रति बहुत संवेदनशील थे। इसी कारण उन्होंने मानव व्यवहार तथा समाज के अध्ययन में बहुत रुचि थी। कौन्त ने ईकोल पॉलीटेक्निक में एक छात्र आन्दोलन में भाग लिया तथा इसलिये उन्हें वहाँ से निष्कासित कर दिया गया। ईकोल पॉलीटेक्निक में वह एल.जी. बोनाण्ड तथा जोसफ द मैस्ट्रे जैसे



परम्परावादी सामाजिक दार्शनिकों के प्रभाव में आया था। उन्होंने मानव समाज के विकास को संचालित करने वाली व्यवस्था के बारे में विचार उन्हीं दार्शनिकों से लिये (रेमन्ड ऐरन, 1966)।

आगस्त काँत फ्रांसीसी क्रान्ति द्वारा हुई सामाजिक अव्यवस्था से भी प्रभावित हुआ था। वह फ्रांसीसी क्रान्ति के परिणामों के मध्य जीवन व्यतीत कर रहे थे। वह उस समय की अव्यवस्था और व्यक्ति के भौतिक तथा सांस्कृतिक पतन से लगातार परेशान और चिंतित रहते थे। उनका मौलिक उद्देश्य यह था कि अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था कैसे प्रतिस्थापित हो और समाज की पुर्नरचना कैसे की जाये।

वर्ष 1824 में वह सेन्ट साइमन के सचिव बन गये। सेन्ट साइमन फ्रांसीसी अभिजात वर्ग से थे, लेकिन अपने विचारों से वह यूटोपियाई समाजवादी थे अर्थात् वह ऐसे आदर्श समाज में विश्वास करते थे जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अवसर तथा संसाधनों में समान हिस्सेदारी मिले। उनका मानना था कि समाज की समस्याओं का उचित समाधान यह है कि आर्थिक उत्पादन का पुर्ननिर्माण किया जाये (टिमोशेफ 1967)। सेन्ट साइमन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को पुर्नगठित करना चाहते थे। आगस्त काँत सेन्ट साइमन के घनिष्ठ मित्र तथा शिष्य बन गये तथा इन्हीं के दिशा-निर्देशन में कौन्त की रुचि अर्थशास्त्र में हो गयी। इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप कौन्त ने समाज के विज्ञान की एक सामान्य अवधारणा का प्रतिपादन किया, जिसे उन्होंने 'समाजशास्त्र' का नाम दिया।

कौन्त का मुख्य ध्येय मानव समाज का राजनीतिक पुर्ननिर्माण करना था। उनका मानना था कि इस तरह के पुर्ननिर्माण को समाज की नैतिक एकता पर निर्भर होना होगा। इसी के सन्दर्भ में सेन्ट साइमन के साथ मिलकर उन्होंने कई प्रमुख विचारों को प्रतिपादित किया। यद्यपि इन दोनों का सम्बन्ध अधिक समय तक नहीं चला। इसके पश्चात् कौन्त ने अपने कुछ व्याख्यानों को "कोर्स द फिलासफी पोजिटिव" (1830-42) में प्रकाशित किया। इस पुस्तक में इन्होंने तीन अवस्थाओं के नियम के सम्बन्ध में लिखा और सामाजिक विज्ञान सम्बन्धी अपनी अवधारणाओं को व्यक्त किया। इसके पश्चात् कौन्त ने मानव समाज के पुर्ननिर्माण के मूल उद्देश्य की पूर्ति करने की योजना में अपने को लगाया और सन् 1851-54 के बीच उनकी दूसरी कृति "सिस्टम ऑफ पोजिटिव पोलिटी" चार खण्डों में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक पर क्लोटाइल डी वॉक्स नामक एक महिला का अत्यधिक प्रभाव स्पष्ट है। उनकी मित्रता केवल एक वर्ष तक रही, क्योंकि सन् 1846 में उनकी मृत्यु हो गयी।

"सिस्टम आफ पोजिटिव पोलिटी" में आगस्त काँत आंशिक रूप से प्रत्यक्षवाद से हटकर मानव धर्म की व्यवस्था की ओर अग्रसर हो गये। विचारधारा में आये इस बदलाव के कारण उनके बहुत से शिष्य तथा बौद्धिक मित्र जैसे इंग्लैण्ड के जे.एस. मिल उनसे अलग हो गये। उन्होंने सामाजिक पुर्ननिर्माण में अपनी भूमिका को इतनी गहराई से लिया कि उन्होंने रूस के राजा को समाज के पुर्ननिर्माण के सम्बन्ध में एक योजना बनाकर भेज दी। लेकिन उनकी पुस्तकों को उनके जीवन में फ्रांस में

कोई मान्यता नहीं मिली। उनकी मृत्यु के पश्चात् पहले इंग्लैण्ड में, फिर फ्रांस में तथा जर्मनी में उनके विचारों को बहुत महत्व दिया जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांसीसी वैज्ञानिक आन्दोलन में इनके विचारों की छाप दिखाई देती है। इस आन्दोलन का प्रतिनिधित्व टेने, रेनान, बर्थलोट और इंग्लैण्ड के जे.एस. मिल जैसे विद्वानों ने किया था।

1.2.3 आगस्त काँत के मुख्य विचार

हमने देखा कि आगस्त काँत समाज का पुर्ननिर्माण नये दृष्टिकोण से करना चाहते थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि यूरोपीय समाज में जो आमूल परिवर्तन हो रहे हैं, खासतौर से फ्रांसीसी समाज में, उनके निरन्तर नये दृष्टिकोण व सिद्धान्त बनने चाहिए। इन नये सिद्धान्तों को मनुष्य के जीवन के सभी पहलुओं को क्रमबद्ध व सन्तुलित करना चाहिए। हमें समाजशास्त्र में उन सामाजिक नियमों की पहचान करनी चाहिए जो समाज में परिवर्तन के इन सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकते हो तथा इन नियमों से समाज में परिवर्तन के साथ-साथ एकीकरण व सन्तुलन की विवेचना हो सके। कौन्त समाजशास्त्र को समाज के विज्ञान की तरह समझना चाहता था और उनका मानना था कि समाज के पुर्ननिर्माण हेतु समाजशास्त्र का उपयोग किया जाना चाहिए। वह समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान की तरह बनाना चाहते थे। यह विज्ञान मानव जाति के उद्विकास की व्याख्या करेगा तथा उनके विकास के लिए आगे के मार्ग की भविष्यवाणी भी करेगा। वह मानव जीवन का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन करने के पक्ष में थे जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों में अध्ययन किया जाता है। प्राकृतिक सिद्धान्तों से जिस प्रकार प्रकृति की वास्तविक स्थितियों का पता चलता है जैसे कॉपिर्निकस का सूर्य केन्द्रित सिद्धान्त, न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त, विलियम हार्वे के रक्त के प्रवाह की खोज, चार्ल्स डार्विन के सर्वोपयुक्त का जीवित रहने का सिद्धान्त आदि से प्राकृतिक विज्ञानों में प्रगति हुई है। इन सिद्धान्तों से प्रभावित होकर उनका यह मानना था कि समाज में भी क्रमबद्धता को पहचानने के लिए सामाजिक नियमों को खोजा जा सकता है।

इस प्रकार कौन्त समाजशास्त्र में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके उसे प्राकृतिक विज्ञान की तरह नियमों व सिद्धान्तों पर आधारित बनाना चाहते थे। उनका मानना था कि समाज के नये सिद्धान्तों को अंधविश्वासों व परम्पराओं के स्थान पर तार्किकता तथा निरक्षण पर आधारित होना चाहिए, जिससे समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में देखा जा सकता है।

आगस्त काँत समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानों की भांति विकसित करना चाहते थे। प्राकृतिक विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र में भी निरीक्षण, विश्लेषण, प्रयोग तथा तुलना करके निष्कर्ष तक पहुँचना था। लेकिन वैज्ञानिक पद्धतियों के साथ-साथ उन्होंने ऐतिहासिक पद्धति का भी प्रतिपादन किया। ऐतिहासिक पद्धति द्वारा विभिन्न

मानव समाजों के बीच उनके विकास क्रम की तुलना की जाती है। यह पद्धति समाजशास्त्र की जान है, क्योंकि ऐतिहासिक विकास समाजशास्त्र का केन्द्र बिन्दु है।

इन पद्धतियों के प्रयोग से वे सामाजिक नियमों की खोज करना चाहते थे, क्योंकि इन नियमों के द्वारा ही समाज का पुनर्गठन सम्भव हो सकता है। अतः उनके अनुसार कोई भी सामाजिक प्रक्रिया समाज के लिए तभी महत्वपूर्ण है, जबकि वह मानव विकास के नियमों को स्थापित करें। ये नियम ही सामाजिक प्रणालियों के आधार को बताते हैं। इस प्रकार प्रत्येक विज्ञान का एक स्वतः सुधारकारी स्वरूप होता है और जो भी वस्तु या विचारधारा सही नहीं रहती, अस्वीकृत कर दी जाती है। इस अर्थ में इस नवीन विज्ञान, जिसे सकारात्मक विज्ञान कहा जाता है, ने परम्परा की सत्ता की वह जगह ले ली जिसे अभी तक अस्वीकार न किया जा सका था (कोजर 1971:6)। यहाँ हम कौन्त द्वारा प्रतिपादित विचारों तीन अवस्थाओं के नियम, विज्ञानों का संस्तरण, तथा प्रत्यक्षवाद का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

● तीन अवस्थाओं का नियम (Law of Three Stages)

आगस्त काँत ने सन् 1822 में जब वे सेंट साइमन के सचिव के रूप में कार्य कर रहे थे तब उन्होंने मानव के बौद्धिक विकास की क्रमबद्ध स्तरों की खोज की। उन्होंने अपने विश्लेषण में मानव की प्रारम्भिक आदिवासी अवस्था में, जिसमें मानव पूर्ण अविकसित रूप में था, यूरोप की सभ्यतावादी अवस्था तक सभी को रखा है। अपने इस अध्ययन में उन्होंने ऐतिहासिक, तुलनात्मक व वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके मानव के मस्तिष्क के विकास के नियमों या तीन अवस्थाओं के नियमों की स्थापना की।

कौन्त का मानना था कि जिस प्रकार मानव मस्तिष्क का विकास हुआ, उसी प्रकार व्यक्ति के मस्तिष्क का भी विकास हुआ अर्थात् व्यक्ति बचपन में अधि प्राकृतिक शक्तियों के प्रति अनेक प्रकार के अन्धविश्वासी स्तर से किशोर अवस्था में तात्त्विक आधार पर चिन्तन (जो अस्तित्व की अमूर्त धारणाओं को समझने की कोशिश करता है) करने लगता है और फिर वयस्क होने पर दार्शनिक अवस्था में पहुँच जाता है, उसी प्रकार मानव की चिन्तन अवस्थाएं विकसित होती हैं और उनका यह विश्वास निम्न तीन चिन्तन धारा अवस्थाओं में हुआ है :

i) धर्मशास्त्रीय अवस्था (Theological Stage)

ii) तत्वमीमांसात्मक अवस्था (Metaphysical Stage)

iii) सकारात्मक या प्रत्यक्षवादी अवस्था (Positive Stage)

i) धर्मशास्त्रीय अवस्था में मानव मस्तिष्क प्रत्येक घटना को मानव के समतुल्य जीवों या शक्तियों में आरोपित करके उसकी व्याख्या करता है। इस अवस्था में मानव मस्तिष्क सभी प्रयत्नों और कार्यों का प्रारम्भिक और अन्तिम चरणों की खोज करने का प्रयत्न करता है और यह मानकर चलता है कि समस्त घटनायें आलौकिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न और उन्हीं की तात्कालिक क्रियाओं का परिणाम होती है। इस अवस्था में व्यक्ति यह समझता है कि प्रत्येक घटना के पीछे दैविक या आलौकिक शक्ति काम कर रही हैं।

उदाहरणतः ग्रामीण व जनजातीय समाजों में यह माना जाता है कि फसल का नष्ट होना या कम पैदावार होना, वर्षा का कम होना या ना होना, परिवार के सदस्यों की अकाल मृत्यु होना, चेचक, हैजा जैसी बीमारियों से पीड़ित होना आदि घटनाओं को दैवकीय प्रकोपों का परिणाम माना जाता है।

इस अवस्था की भी तीन उप-अवस्थायें हैं। ये तीन उप-अवस्थायें इस प्रकार हैं :-

- **जीवित सत्तावाद (Fetishism)**— धर्मशास्त्रीय अवस्था की उप-अवस्थाओं की यह पहली चिन्तन की अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्यों का यह विश्वास होता है कि प्रत्येक जड़ तथा चेतन वस्तु में जीवन होता है। पेड़-पौधों, नदियों, पहाड़ों तथा पत्थरों में भी किसी ना किसी अलौकिक शक्ति का अस्तित्व होने के कारण उसमें जीवन होता है—एक ऐसा जीवन जो मानवीय क्रियाओं पर अच्छा या बुरा प्रभाव डाल सकता है। यह आदिम मानव के चिन्तन का स्तर है, क्योंकि आदिम मानव एवं जनजातियाँ प्रत्येक पदार्थ में किसी न किसी आत्मा का निवास होने का विश्वास करते हैं।
- **बहु-देववाद (Polytheism)**— बहु देववाद उप अवस्थाओं की चिन्तन की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में मानव का चिन्तन अलौकिक विश्वासों से प्रभावित होने लगता है जिनका सम्बन्ध अनेक देवी-देवताओं से होता है। इस अवस्था में मनुष्य का मस्तिष्क तुलनात्मक रूप से अधिक संगठित हो जाता है तथा मानव की तर्क शक्ति बढ़ने लगती है। फलस्वरूप व्यक्ति अधि-प्राकृतिक शक्तियों की प्रकृति और कार्यों के आधार पर उन्हें विभिन्न समूहों में विभाजित करके कुछ प्रमुख देवी-देवताओं की शक्ति में विश्वास करने लगता है। इस प्रकार बहु-देववाद धर्मशास्त्रीय अवस्था के चिन्तन का वह स्तर है जिसमें मानव सभी घटनाओं को विशेष देवी-देवताओं की प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता का परिणाम मानने लगता है।
- **एकेश्वरवाद (Monotheism)**— धर्मशास्त्रीय चिन्तन की उप-अवस्थाओं का यह अन्तिम स्तर है। इस अवस्था में मानव चिन्तन में कुछ अधिक स्पष्टता आ जाती है। इस स्तर में विभिन्न देवी-देवताओं में विश्वास समाप्त नहीं हो जाते, बल्कि अनेक देवताओं को भी एक सर्वशक्तिमान ईश्वर द्वारा ही संचालित और संगठित माना जाने लगता है। धर्मशास्त्रीय अवस्था के अन्तर्गत जीवित सत्तावाद, बहु-देववाद तथा एकेश्वरवाद जैसी तीनों उपअवस्थाओं का एक स्तर के बाद एक निश्चित क्रम में विकास होता है, यद्यपि मानव प्रत्येक घटना के कारण और परिणाम की व्याख्या किसी अलौकिक सत्ता के सन्दर्भ में ही करता है।

ii) तत्वमीमांसक अवस्था में मस्तिष्क घटनाओं को प्रकृति समाज अमूर्त अस्तित्व के द्वारा व्याख्या करता है। ये अमूर्त अस्तित्व मानव द्वारा बनाये गये तत्व हैं। तत्वमीमांसक अवस्था धर्मशास्त्रीय अवस्था का ही संशोधित रूप है। इस स्तर में मस्तिष्क यह मानने लगता है कि अलौकिक शक्तियों की अपेक्षा कुछ अमूर्त शक्तियाँ ही वास्तविक सत्ता के रूप में सभी जीवों में विद्यमान रहती है अर्थात् गुणात्मक मानवीकरण तथा उनमें सभी तरह की घटनाओं को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। इस प्रकार तत्वमीमांसक

अवस्था के अन्तर्गत गुणात्मक मानवीकरण (Personified abstraction) की दशा पर विशेष बल दिया। इसका तात्पर्य है कि तत्वमीमांसक अवस्था में व्यक्ति यह मानने लगता है कि ईश्वरीय सत्ता प्रत्येक जीव के अन्दर विद्यमान है तथा नैतिक और मानवीय गुणों को विकसित करना ही मानव जीवन का सबसे प्रमुख ध्येय है। वास्तव में तत्व ज्ञान एक विश्वास तथा रहस्यपूर्ण गुण है, जो अपनी प्रकृति से अमूर्त होते हुए भी मानवीय क्रियाओं को व्यापक रूप से प्रभावित करता है।

iii) सकारात्मक अवस्था में मानव वैज्ञानिक ज्ञान या निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग की व्यवस्थित कार्यप्रणालियों द्वारा घटनाओं का विश्लेषण करते हैं। इस अवस्था में मनुष्य उपरोक्त दोनों अवस्थाओं के धार्मिक और काल्पनिक विचारों को त्यागकर केवल उन्हीं तथ्यों को यथार्थ मानता है कि जिन्हें प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। मानव के ज्ञान की इस अवस्था को प्रत्यक्षवाद एवं वैज्ञानिक अवस्था भी कहा जाता है। इस प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक अवस्था में मानव ने कल्पनात्मक चिन्तन के स्थान पर घटनाओं का वैज्ञानिक ढंग से अवलोकन करना आरम्भ कर दिया।

कौंत का विश्वास था कि मानव चिन्तन की प्रत्येक अवस्था का विकास निश्चित रूप से अपने से पूर्व की अवस्था से ही होता है। जब पूर्व की अवस्था पूरी हो जाती है तब नवीन अवस्था का उदय होता है। उन्होंने मानव चिन्तन की तीन अवस्थाओं में समाज में पाये जाने वाले सामाजिक व्यवस्थाओं के स्वरूपों तथा समाज में पाई जाने वाली सामाजिक इकाइयों के प्रभारों तथा भौतिक अवस्थाओं के साथ परस्पर सम्बन्ध दिखाये हैं। उनका मानना था कि सामाजिक जीवन का विकास उसी तरह होता है जिस तरह मानवों के सोचने व समझने के तरीकों में क्रमबद्ध परिवर्तन आते हैं। कौंत के अनुसार जब क्रान्तिक काल आता है तो प्राचीन परम्परायें, व्यवस्थायें, संस्थायें असंतुलित हो जाती हैं, जिससे बौद्धिक सामंजस्य समाप्त हो जाता है और समाज में असंतुलन आ जाता है। कौंत के अनुसार फ्रांसीसी समाज इसी क्रान्तिक काल से गुजर रहा था।

मानव के इतिहास में मानव चिन्तन की धर्मशास्त्रीय अवस्था में धर्म का राजनीति पर प्रभुत्व रहता है और शासन सैनिकों द्वारा चलाया जाता है। तत्वमीमांसक अवस्था में चर्च के पादरियों तथा वकीलों का प्रभुत्व रहता है। यह अवस्था लगभग मध्यकाल और पुर्नजागरण आन्दोलन के समकक्ष थी। सकारात्मक अवस्था में जिसका उदय पूर्व की दोनों अवस्थाओं के बाद हो रहा था। इसमें औद्योगिक प्रशासकों तथा वैज्ञानिक मार्गदर्शकों का प्रभुत्व होगा। धर्मशास्त्रीय अवस्था में सामाजिक इकाई के रूप में परिवार एक महत्वपूर्ण इकाई था। तत्वमीमांसक अवस्था में राज्य एक महत्वपूर्ण इकाई था तथा सकारात्मक अवस्था में सम्पूर्ण मानव जाति ही सामाजिक इकाई होगी।

तीन अवस्थाओं के नियम विज्ञानों के संस्तरण के साथ भी जुड़ा हुआ है। जिस तरह मानव की चिन्तनधाराओं का विकास होता है उसी तरह विभिन्न विज्ञान संस्तरण में स्थापित होते जाते हैं। समाजशास्त्र के अलावा सभी विज्ञान सकारात्मक अथवा विकास के स्तर तक पहुँच चुके हैं लेकिन समाजशास्त्र के विकास के साथ ही यह प्रक्रिया पूरी हो जायेगी।

बोध प्रश्न-1

(i) निम्नलिखित में से कौन-सा समाज कौंत द्वारा प्रस्तुत धर्मशास्त्रीय अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है?

- | | |
|-------------------|--------------------|
| (अ) औद्योगिक समाज | (ब) सैनिक समाज |
| (स) आदिम समाज | (द) परम्परागत समाज |

(ii) धर्मशास्त्रीय अवस्था में राजनीति पर किसका प्रभुत्व रहता है?

- | | |
|-------------|--------------|
| (अ) नैतिकता | (ब) कानून |
| (स) धर्म | (द) संस्कृति |

(iii) तत्वमीमांसात्मक अवस्था में महत्वपूर्ण इकाई के रूप में क्या था?

- | | |
|---------------|---------------|
| (अ) राज्य | (ब) परिवार |
| (स) मानव जाति | (द) फौजी शासक |

(iv) मानव मस्तिष्क घटनाओं को प्रकृति समान अमूर्त अस्तित्व के माध्यम से विवेचन करता है।

- | | |
|--------------------------|------------------------|
| (अ) धर्मशास्त्रीय अवस्था | (ब) तत्वमीमांसक अवस्था |
| (स) वैज्ञानिक अवस्था | (द) सकारात्मक |

● **विज्ञानों का संस्तरण (Hierarchy of Sciences)**

कौंत ने समाजशास्त्र को एक प्रत्यक्षवादी विज्ञान माना है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने विज्ञानों के एक संस्तरण का प्रस्तुत किया। उन्होंने समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग समाज विज्ञानों के कुल योग के रूप में किया है।

कौन्त के अनुसार विज्ञानों के परीक्षण से पता चलता है कि ना केवल मानव विचारधारार्ये उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं से होकर गुजरती हैं, अपितु हर एक विषय का भी इसी तरह से इसी क्रम में विकास हुआ है अर्थात् सभी विषयों का विकास एक सरल स्तर से जटिल स्तर की ओर हुआ है।

उन्होंने कुछ निश्चित नियमों के आधार पर उच्चता तथ निम्नता का एक व्यवस्थित क्रम प्रस्तुत किया, जिसे 'विज्ञानों का संस्तरण' कहते हैं। उनका मानना था कि समाजशास्त्र दूसरे विज्ञानों की तुलना में नया होने के बावजूद भी सबसे अधिक जटिल विज्ञान है तथा इसका अध्ययन क्षेत्र दूसरे विज्ञानों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। जिस प्रकार उद्भविकासीय क्रम से ही मानव मस्तिष्क के चिंतन का विकास तीन निश्चित अवस्थाओं से होकर हुआ है, उसी प्रकार विज्ञानों के श्रेणीक्रम में वैज्ञानिक ज्ञान का विकास भी एक निश्चित क्रम में हुआ है, यद्यपि प्रत्येक विज्ञान के विकास की गति एक-दूसरे से भिन्न होती है। कौंत ने विज्ञानों का संस्तरण की प्रणाली प्रस्तुत की है जो निम्नलिखित प्रकार से है :

i) **विज्ञानों के ऐतिहासिक ढंग से प्रारम्भ तथा विकास करने का क्रम**

जिस प्रकार मानव चिंतन का ऐतिहासिक विकास कुछ निश्चित अवस्थाओं से गुजरने के द्वारा ही हुआ है, उसी प्रकार विज्ञानों का विकास भी मानव चिंतन की तीन अवस्थाओं से होकर ही हुआ है। प्रत्येक विज्ञान पहले धर्मशास्त्रीय फिर तत्वमीमांसक

तथा अन्त में सकारात्मक अवस्था से होकर गुजरते हैं। लेकिन भिन्न-भिन्न विज्ञान इन तीन अवस्थाओं से एक साथ नहीं गुजरते हैं। जो विज्ञान संस्तरण में जितना उच्च स्थान पर होगा उतना ही देरी से वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जायेगा। इस प्रकार विभिन्न विज्ञानों के ऐतिहासिक रूप से प्रारम्भ तथा विकास करने का क्रम उपरोक्त तीन अवस्थाओं के माध्यम से प्रदर्शित होता है।

ii) बढ़ती हुई निर्भरता का क्रम

प्रत्येक विज्ञान अपने पूर्ववर्ती पर आधारित होता है और अपने परवर्ती के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। कौंत का मानना था कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा अपने से पहले विज्ञानों पर आश्रित होती है। इसका अभिप्राय है कि जो विज्ञान सबसे प्रारम्भ में विकसित होता है, वह अन्य विज्ञान पर निर्भर न होने के कारण स्वतन्त्र तथा पूर्ण प्रकृति का होता है। इसके उपरान्त विकसित होने वाला प्रत्येक विज्ञान अपने से पूर्ववर्ती सभी विज्ञानों पर निर्भर होता चला जाता है। इसी क्रम से विज्ञान की प्रत्येक आने वाली शाखा की पराश्रयता में वृद्धि होती जायेगी। जो विज्ञान जितना बाद में विकसित होगा, वह नवीन होने के साथ ही अपने से पूर्ववर्ती विज्ञानों पर उतना ही निर्भर होगा तथा अपने से परवर्ती विज्ञानों के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।

iii) विषय वस्तु के सम्बन्ध में निरन्तर घटती सामान्यता तथा बढ़ती हुई जटिलता

कौंत का मानना था कि जैसे-जैसे एक विज्ञान की दूसरे विज्ञान पर निर्भरता बढ़ती जाती है, उसकी सामान्यता घटती जाती है। किसी विज्ञान में यह सामान्यता जितनी कम होगी वह विज्ञान अन्य विज्ञानों की तुलना में उतना ही अधिक जटिल देखने को मिलेगा। इसका कारण यह है कि जिस विज्ञान की विषय-वस्तु जितनी सरल होती है वह अन्य विज्ञानों पर उतना ही कम निर्भर होता है। जैसे-जैसे एक विज्ञान की दूसरे विज्ञानों पर निर्भरता बढ़ती जाती है, उसकी विषय-वस्तु में विशेषीकरण की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है और परिणामस्वरूप उस विज्ञान की प्रकृति जटिल होती जाती है।

उनका विश्वास था कि जो घटनाएँ सामान्य होती हैं या सार्वभौमिक रूप से पायी जाती हैं, उनकी विषय-वस्तु सरल होती है। जब विज्ञान से सम्बन्धित नियमों में विभिन्नता बढ़ती जाती है उसकी विषय-वस्तु में भी विशेषीकरण होने लगता है। अतः उसकी जटिलता भी बढ़ने लगती है। इसी आधार पर कौंत ने यह स्पष्ट किया है कि प्रारम्भ में घटित होने वाली घटनाओं का रूप तुलनात्मक रूप से अधिक सरल होता है, इसलिए इनका अध्ययन करने वाला विज्ञान सबसे अधिक सरल और सामान्य प्रकृति का होता है। इसी कारण कौंत का मानना था कि जो विज्ञान जितना अधिक जटिल, विशिष्ट तथा अन्य विज्ञानों पर निर्भर होता है, विज्ञानों के श्रेणी क्रम में उसका स्थान उतना ही ऊपर होता है।

iv) अध्ययन के अंतर्गत आने वाले तथ्यों में संशोधन करने की अधिक से अधिक क्षमता

कौंत के अनुसार विज्ञानों का विकास एक विशेष क्रम से होता है जो घटती हुई सरलता और बढ़ती हुई जटिलता है। विज्ञानों के श्रेणीक्रम में पूर्ववर्ती विज्ञान में उनकी

विषय-वस्तु में संशोधन की बहुत कम सम्भावनाएं होती हैं। परवर्ती विज्ञानों में संशोधन की प्रकृति बढ़ती जाती है अर्थात् जो विज्ञान जितने देरी से जन्म लेता है वह उतना ही संशोधन की ज्यादा से ज्यादा क्षमता रखता है। इसी कारण उनका मानना था समाजशास्त्र सबसे जटिल विज्ञान है क्योंकि इसमें आने वाले तथ्यों में बहुत अधिक संशोधन किया जा सकता है। इसी कारण अन्य विज्ञानों की विषय- वस्तु समाजशास्त्र की तुलना में सरल है।

इस प्रकार, विज्ञानों की सरलता और जटिलताओं के आधार पर विज्ञानों का क्रम इस प्रकार था— गणित, खगोलिकी, भौतिकी, रसायन, जैविकी, समाजशास्त्र तथा अन्त में नैतिक मूल्य, इसमें कौंत का तात्पर्य वास्तव में मानव का व्यक्तियों के रूप में अध्ययन करने से था (ऐसा अध्ययन जो समाजशास्त्र के बाद होगा और मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र का मिश्रित रूप होगा)। इनमें समाजशास्त्र सबसे जटिल विज्ञान था क्योंकि इसमें सबसे जटिल विषय समाज का अध्ययन करना था। इसलिए समाजशास्त्र का उदय अन्य विज्ञानों के बहुत समय बाद हुआ। अन्य विज्ञानों की विषय वस्तु समाजशास्त्र की तुलना में सरल थी। समाजशास्त्र का उदय मानव जाति द्वारा समाज से सम्बन्धित नये वस्तुनिष्ठ तथ्यों जैसे सामाजिक व्यवस्था, औद्योगिकरण का विस्तार, शोषण, गरीबी आदि को पहचानने से जुड़ा हुआ है। कौंत ने जब समाजशास्त्र को विज्ञानों के संस्तरण का सर्वोच्च शिखर कहा तो उसके दिमाग में विज्ञान की सामान्य एकीकरण की प्रकृति की बात थी। समाजशास्त्र को यहाँ अन्य विज्ञानों से ज्यादा श्रेष्ठ होने का दावा नहीं करना था। वह तो केवल यह चाहते थे कि सकारात्मक विश्लेषण में वृद्धि के साथ-साथ सभी विज्ञानों का एक- दूसरे के साथ संबंध स्थापित किया जा सकता है। कौन्त का विश्वास था कि सभी विज्ञान इन तीन अवस्थाओं—धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसक तथा सकारात्मक अवस्था से होकर गुजरते हैं। परन्तु प्रत्येक विज्ञान उपरोक्त अवस्थाओं से अलग-अलग तरह से गुजरते हैं अर्थात् जो विज्ञान संस्तरण में जितना अधिक ऊँचा स्थान रखता है, वह उतनी देरी से एक अवस्था से दूसरी अवस्था में चला जायेगा। सकारात्मक विश्लेषण के विकास के साथ-साथ उन्होंने समाजशास्त्र के लिए प्रत्यक्षवादी प्रणालियों को अपनाने का समर्थन किया।

बोध प्रश्न-2

- (i) विज्ञानों के संस्तरण की अवधारणा किस विद्वान ने दी है?

(अ) कार्ल्स मार्क्स	(ब) सेण्ट साइमन
(स) ऑगस्ट कौंत	(स) मैक्स वेबर
- (ii) निम्नलिखित में से कौंत ने किस विज्ञान को सबसे अधिक जटिल माना है?

(अ) समाजशास्त्र	(ब) प्राणीशास्त्र
(स) खगोलशास्त्र	(स) गणित
- (iii) विज्ञानों के संस्तरण में कौंत ने किस विज्ञान को पहला स्थान दिया है?

(अ) समाजशास्त्र	(ब) भौतिक विज्ञान
(स) गणित	(स) जीव विज्ञान

(iv) विज्ञानों के संस्तरण में प्रत्येक विषय सरलता से किस स्तर की ओर विकसित होता है?

- | | |
|---------------|---------------------|
| (अ) सामान्यता | (ब) पूर्ववर्ती स्तर |
| (स) सकारात्मक | (द) जटिलता |

● प्रत्यक्षवाद

प्रत्यक्षवाद कौन्त के चिन्तन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है जिसके द्वारा उन्होंने समाजशास्त्रीय अध्ययन को एक वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया। प्रत्यक्षवाद सरल शब्दों में समाज एवं सामाजिक जीवन को प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर देखने और समझने का सिद्धान्त है। कौन्त का मानना था कि जिस प्रकार भौतिक जगत और प्रकृति के निर्माण एवं परिवर्तन के निश्चित नियम हैं, उसी प्रकार समाज के गठन, उसके चलने एवं बदलने के भी नियम हैं।

प्रत्यक्षवाद का अर्थ

प्रत्यक्षवाद का अर्थ सामाजिक घटनाओं का प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण करके किसी निष्कर्ष तक पहुँचना है। प्राकृतिक विज्ञानों का विकास तेजी से इसी कारण हुआ कि इनके द्वारा विभिन्न पदार्थों का अध्ययन कल्पना के आधार पर न करके निरीक्षण, परीक्षण के आधार पर किया जाता है। वैज्ञानिक इस आधार पर कार्य करते हैं कि सभी पदार्थ की प्रकृति तथा उससे सम्बन्धित व्यवहार कुछ अपरिवर्तनशील नियमों पर आधारित होते हैं। सामाजिक घटनाओं को संचालित करने वाले नियमों को धार्मिक तथा तात्विक आधार पर नहीं समझा जा सकता। प्रत्यक्षवाद के माध्यम से ही सामाजिक घटनाओं का अध्ययन हम वैज्ञानिक विधि द्वारा कर सकते हैं। इसके द्वारा घटनाओं का अवलोकन, परीक्षण और वर्गीकरण करके विभिन्न घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों और उन्हें नियमित करने वाली पद्धतियों को समझा जा सकता है। रेमण्ड एरॉ (Raymond Aron, 1966) ने माना है कि “प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध घटनाओं के अवलोकन, उनके विश्लेषण तथा उन घटनाओं के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को नियमित करने वाले नियमों की खोज करने से है।” इस प्रकार आप समझ सकते हैं कि सामाजिक घटनाओं को निरीक्षण, परीक्षण तथा विश्लेषण के आधार पर समझना ही प्रत्यक्षवाद है।

प्रत्यक्षवाद की आधारभूत मान्यताएं

प्रत्यक्षवाद के अर्थ से आपको स्पष्ट होता है कि कौन्त प्रत्यक्षवाद को अध्ययन की एक विशिष्ट पद्धति के रूप में विकसित करना चाहते थे जिसका मूल उद्देश्य सामाजिक घटनाओं के अध्ययन को अधिक आनुभाविक तथा यथार्थ बनाना है। प्रत्यक्षवाद को समझने हेतु आपको इसकी मूल मान्यताओं को जानना जरूरी है जो निम्नलिखित हैं:

- i) जिस प्रकार प्राकृतिक घटनाएं निश्चित नियमों पर आधारित होती हैं, उसी प्रकार सामाजिक घटनाएं भी व्यवस्थित नियमों के द्वारा संचालित होती हैं।
- ii) अवलोकन, विश्लेषण, वर्गीकरण तथा परीक्षण के द्वारा संकलित सामाजिक तथ्यों के माध्यम से यथार्थ व वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

- iii) प्रत्यक्षवाद कोई अवधारणा या सिद्धान्त नहीं है अपितु यह अध्ययन की एक विशिष्ट तथा वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें तार्किकता को महत्वपूर्ण माना जाता है।
- iv) इसमें सम्पूर्ण मानव समाज का भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास करते हुए सामाजिक प्रगति की दिशा में आगे बढ़ना है।

कौंत का यह मानना था कि जिस प्रकार प्राकृतिक घटनायें आकस्मिक ढंग से नहीं होती हैं अपितु निश्चित नियमों तथा क्रमबद्धता पर आधारित होती हैं, उसी तरह से सामाजिक घटनाएं भी कुछ निश्चित तार्किकता तथा नियमों से घटित होती हैं। प्राकृतिक विज्ञान में घटनाओं के घटित होने के नियमों को अवलोकन, परीक्षण तथा वर्गीकरण के आधार पर प्राप्त किया जाता है। उनका विश्वास था कि सामाजिक घटनाओं को संचालित करने वाले नियमों को प्रत्यक्षवाद की पद्धति के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

कौंत के अनुसार प्रत्यक्षवाद किसी अनुमानिक तथ्यों पर आधारित न होकर एक ऐसे यथार्थ तथा वास्तविक ज्ञान से सम्बन्धित है जिसे अवलोकन, वर्गीकरण तथा परीक्षण के द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसीलिये इसके द्वारा प्राप्त अध्ययन तथा निष्कर्ष अत्यधिक विश्वसनीय तथा अनुभाविक होते हैं। प्रत्यक्षवाद में प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर अपनी स्थापनाओं अथवा उपकल्पनाओं को सिद्ध किया जाता है। कौंत का मानना था कि वैज्ञानिक पद्धति सार्वभौमिक है। सभी विषयों के लिए वैज्ञानिक पद्धति एक ही होती है। प्रत्यक्षवादी पद्धति में तुलना को कौंत ने बहुत महत्वपूर्ण माना है।

उनका मानना था कि मानव चिंतन की धर्मशास्त्रीय अवस्था में सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण धर्म तथा अन्धविश्वास पर आधारित होता था, जबकि सकारात्मक अवस्था में इन घटनाओं के विश्लेषण में अवलोकन, परीक्षण तथा तार्किकता को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

कौंत का विश्वास था कि प्रत्यक्षवाद कोई सामाजिक सिद्धान्त नहीं है बल्कि यह सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण की एक वैज्ञानिक पद्धति है। यह वह पद्धति है जिसमें सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने के लिए उनका निष्पक्ष अवलोकन किया जाता है, उसके उपरान्त अवलोकन किये गये तथ्यों का परीक्षण करके सामान्य घटनाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है जिससे विभिन्न समानताओं तथा विविधता का विश्लेषण करके सामान्य नियमों को समझा जा सके।

कौंत की मान्यता है कि सामाजिक घटनाओं के सह-सम्बन्धों को समझने में तर्क एक महत्वपूर्ण भूमिका रखता है। उन्होंने प्रत्यक्षवाद में बौद्धिक क्रियाओं को अधिक महत्व देते हुए मानव मस्तिष्क की तार्किकता की विस्तृत विवेचना की। प्रत्यक्षवादी स्तर पर मानव की बौद्धिक क्षमता इतनी विकसित हो जायेगी कि वह सामाजिक घटनाओं के कारण और परिणाम को समझने के लिए अनुमानों के स्थान पर तर्कपूर्ण विचारों का महत्व देने लगेगा।

कौंत प्रत्यक्षवाद के आधार पर समाज का पुर्ननिर्माण अथवा पुर्नर्गठन करना चाहता था। उनका मानना था कि विज्ञान की खोजों के आधार पर एक नये समाज का

निर्माण हो सकता है। प्रत्यक्षवाद को सामाजिक पुर्ननिर्माण का एक प्रभावशाली साधन बनाने के लिए कौंत ने एक प्रत्यक्षवादी समाज के विकास पर भी बल दिया, जिसमें असुरक्षा को अव्यक्तिवादता की जगह सद्भावना और परोपकार का अधिक महत्व हो। उन्होंने ऐसे समाज को 'परार्थवादी समाज' (दूसरों के हित के लिए जीवन व्यतीत करने वाले लोगों के समाज) का नाम दिया।

अगस्त कौंत ने प्रत्यक्षवाद के आधार पर समाज का आधारभूत परिवर्तन नहीं करना था। उनका मानना था कि नवीन प्रौद्योगिकी, उद्योग और व्यापार आगे थमने वाला नहीं है, इसी कारण इन्हें मानवीय, नैतिक एवं धर्मसंगत बनाने की जरूरत है। कौन्त धर्म से अत्यधिक प्रभावित थे। वह सामाजिक जीवन में नैतिकता को ही धर्म के लिए आवश्यक मानते थे। प्रत्यक्षवाद के द्वारा समाज में धर्म को वह वैज्ञानिक धर्म बनाना चाहते थे।

बोटोमोर (1978) के अनुसार अगस्त कौंत संरक्षणवादी थे। उनके संरक्षणवादी विचारों के कारण प्रारम्भिक समाजशास्त्र को संरक्षणवादी कहा गया। वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण द्वारा समाज का पुर्ननिर्माण करने की रूपरेखा तैयार करके उन्होंने एक काल्पनिक समाज की परियोजना बनायी। पारसन्स (1949) ने कौन्त के विचारों की आलोचना करते हुए कहा कि उनके विचारों की वर्तमान में कोई प्रासंगिकता नहीं रह गयी है। कोजर (1977) ने भी कहा है कि एक तरफ कौंत का ऐतिहासिक विश्लेषण सामान्य तौर पर उचित है लेकिन दूसरी तरफ उनके द्वारा प्रत्यक्षवादी समाज की धारणा ठोस व्याख्या से ज्यादा पूँजीवादी समाज की कमियों को काल्पनिक आधार पर दूर करने की योजना है। कौंत के विचार प्रबोधनकाल से प्रभावित थे और इसी काल में ये विचार उत्पन्न हुये थे। समकालीन समाजशास्त्री इन विचारों से सहमत नहीं हैं। परन्तु उनका समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग आज भी समाजशास्त्रीय विश्लेषण में विद्यमान हैं (टिमाशेफ, 1967)।

बोध प्रश्न-3

- (i) निम्न में से किसे प्रत्यक्षवाद का जनक माना जाता है?

(अ) हर्बर्ट स्पेंसर	(ब) दुर्खीम
(स) कार्ल मार्क्स	(स) ऑगस्ट कौंत
- (ii) कौंत के अनुसार निम्नलिखित में से प्रत्यक्षवाद क्या है?

(अ) सिद्धान्त	(ब) अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति
(स) अवधारणा	(स) तथ्यों के वर्गीकरण की प्रणाली
- (iii) कौंत द्वारा प्रत्यक्षवादी अवस्था को मानव चिन्तन की अवस्था माना है।

(अ) प्रयोगात्मक	(ब) वैज्ञानिक
(स) दार्शनिक	(स) धार्मिक
- (iv) जब घटनाओं का अवलोकन परीक्षण और वर्गीकरण करके तार्किक निष्कर्ष दिये जाते हैं, तब कौंत के अनुसार इसे कहा जाता है:

(अ) विज्ञान	(ब) वैज्ञानिक पद्धति
(स) प्रत्यक्षवाद	(स) सामान्यीकरण

1.2.4 समकालीन समाजशास्त्र पर कौंत के विचारों का प्रभाव

अब आपको मालूम हो गया होगा कि समाज के विश्लेषण के रूप में समाजशास्त्र का प्रारम्भ और विकास का श्रेय ऑगस्ट कौंत के योगदान को जाता है। उनके कार्यों ने सोरोकिन, जे.एस. मिल, लेस्टर वार्ड, मैक्स वेबर, दुखाइम दुर्खाइम, पारसन्स तथा अन्य प्रमुख समाज विज्ञानियों को प्रभावित किया था। कौंत के तीन अवस्थाओं के नियत को वर्तमान समाजशास्त्रियों से वर्तमान परिस्थितियों में उचित नहीं माना है परन्तु संस्कृति तथा विचारधारा के उद्विकास में अवस्थाओं की अनिवार्य धारणाओं को संशोधित रूप से स्वीकार किया गया है। इन्हें सोरोकिन जैसे समाजशास्त्रियों की कृतियों में देखा जा सकता है।

1.3 सारांश

इस इकाई में आपने समाजशास्त्र विषय के आरम्भ के बारे में पढ़ा। कौंत समाजशास्त्र के जनक हैं। आपने यहाँ यह समझा कि मानव समाज तथा व्यवहार का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन कुछ समय पूर्व में शुरू हुआ है। यहाँ हमने ऑगस्ट कौंत (1978–1857) के जीवन और उसके सामाजिक-आर्थिक प्रास्थिति के सन्दर्भ में भी आपका परिचय कराया। वह समाजशास्त्र का संस्थापक है। उन्होंने इस विषय को समाजशास्त्र का नाम दिया। हमने यहाँ कौंत के मुख्य विचारों के बारे में भी बताया है, जिसमें तीन अवस्थाओं का नियम, विज्ञानों का संस्तरण तथा प्रत्यक्षवाद मुख्य है। यहाँ आपने इन विचारों को विस्तृत रूप से जाना तथा समकालीन समाजशास्त्र में कौंत के विचारों के महत्व को भी देखा है।

1.4 पारिभाषिक शब्दावली

विज्ञान : प्रयोग, विश्लेषण तथा परीक्षण के द्वारा प्राप्त व्यवस्थित ज्ञान ही विज्ञान है। इस ज्ञान का परीक्षण किया जा सकता है, प्रमाणिकता को सिद्ध किया जा सकता है।

पद्धति : किसी सामाजिक घटना के संदर्भ में तथ्य एकत्रित करने का तरीका पद्धति है जैसे अवलोकन, साक्षात्कार, प्रश्नावली आदि।

तत्त्व मीमांसीय : तत्त्वमीमांसीय दर्शनशास्त्र की शाखा है जिसमें यथार्थ अथवा सम्पूर्ण विश्व की प्रकृति या संरचना सम्बन्धी सिद्धान्त का विश्लेषण किया जाता है। कौंत मानव के चिंतन के विकास की इस अवस्था में 'मस्तिष्क किसी घटना को अमूर्त शक्तियों' के स्वरूप में विवेचना करता है। यह मानव चिंतन की दूसरी अवस्था है।

धर्मशास्त्रीय : इस अवस्था में मानव चिंतन सभी घटनाओं को आलौकिक शक्तियों द्वारा संचालित मानता है। इसमें सभी विश्लेषण दैविक शक्तियों से सम्बन्धित अन्धविश्वासों के रूप में होते हैं।

सकारात्मक : इस अवस्था में मानव चिंतन का विकास अवलोकन, परीक्षण तथा तुलना की वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा घटनाओं का विवेचन तथा विश्लेषण किया जाता है। कौंत ने इसे मस्तिष्क के विकास की अंतिम अवस्था में रखा है।

प्रत्यक्षवाद : ज्ञान की इस शाखा में आनुभविक तथ्यों को ही ज्ञान का आधार माना जाता है। इसमें घटनाओं का विश्लेषण अवलोकन, वर्गीकरण तथा परीक्षण अर्थात् वैज्ञानिक पद्धति द्वारा किया जाता है।

जीवित सत्तावाद : इस स्तर में सभी वस्तुओं में एक जीवित सत्ता का अनुभव किया जाता है और उसी के द्वारा अनेक जादू-टोनों पर विश्वास किया जाता है।

1.5 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- (i) ब- सैनिक समाज
- (ii) स- धर्म
- (iii) अ- राज्य
- (iv) ब- तत्वमीमांसक अवस्था

बोध प्रश्न-2

- (i) स- ऑगस्ट कौंत
- (ii) अ- समाजशास्त्र
- (iii) स- गणित
- (iv) द- जटिलता

बोध प्रश्न-3

- (i) द- ऑगस्ट कौंत
- (ii) ब- अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति
- (iii) ब- वैज्ञानिक
- (iv) स- प्रत्यक्षवाद

1.6 सन्दर्भ

बॉटमोर, टी.बी. (1978) सोशियोलॉजी, बम्बई, ब्लेकी एण्ड सनन।

कोजर, एल.ए. (1971) मास्टर्स ऑफ सोशियोलॉजिकल थॉट, न्यूयार्क, हाकोर्ट ब्रास जोवानोविच।

पारसन्, टालकट (1949) दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन, न्यूयार्क, मैकग्राहिल।

टिमाशेफ, निकोलस एस. (1967) **सोशियोलॉजिकल ट्यूरी : इटस् नेचर एण्ड ग्रोथ**, न्यूयार्क, रैंडम हाउस।

रेमन्ड, ऐरन (1966) **मेन करन्ट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट**, वाल्यूम-1, लंदन, पेनग्यून बुक्स।

1.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बॉटमोर, टी.बी. (2004) **समाजशास्त्र : समस्याओं और साहित्यों का अध्ययन**, दिल्ली, ग्रन्थ शिल्पी।

सिंह, जे.पी. (1999) **सामाजिक परिवर्तन : स्वरूप एवं सिद्धान्त**, नई दिल्ली, प्रेंटिस-हाल आफ इण्डिया।

Marshall, Gordon (ed) (1997) **A Dictionary of Sociology**, New York Oxford University Press.

Fletcher, Ronald (2000) **The Making of Sociology: A Study of Sociological Theory**, Vol-I, Jaipur Rawat Publications.

1.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. समाजशास्त्र के लिये कौंत के योगदान की विवेचना कीजिये।
2. कौंत द्वारा प्रतिपादित तीन अवस्थाओं के नियम की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिये।
3. विज्ञानों के संस्तरण पर कौंत के विचारों की समीक्षा कीजिये।
4. प्रत्यक्षवाद क्या है? कौंत के प्रत्यक्षवादी विचारों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।

इकाई 02 – सामाजिक उद्विकास (Social Evolution)

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 हर्बर्ट स्पेंसर
 - जीवन परिचय
- 2.3 सामाजिक उद्विकास
 - स्पेंसर का उद्विकासवादी सिद्धान्त
- 2.4 सारांश
- 2.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.6 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर
- 2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.9 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा आप हर्बर्ट स्पेंसर के जीवन परिचय तथा हर्बर्ट स्पेंसर के समाज के उद्विकास सम्बन्धी विचारों को देखेंगे, जिसके द्वारा आप समाज के विकास के विभिन्न स्तरों को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्रीय और मानवशास्त्रियों ने यह विचार प्रस्तुत किया कि समाज में परिवर्तन एक उद्विकासीय प्रणाली के तहत होता है। प्रारम्भिक स्तर में समाज काफी सरल था और उसमें बहुत कम विभेदीकरण पाया जाता था। परन्तु जैसे-जैसे समाज का विकास हुआ, वैसे-वैसे समाज में जटिलता तथा विभेदीकरण बढ़ता गया। समाज का विकास विभिन्न स्तरों में हुआ। मानव गतिविधि आक्रामक युद्ध, रक्षात्मक युद्ध और उद्योगों के चरणों से एक-एक कर गुजरी है। स्पेंसर का विश्लेषण अन्ततः ब्रह्मणीय उद्विकास के एक सिद्धान्त पर आधारित है। जिसके अनुसार 'एक अनिश्चित अस्थिर समरूपता से एक निश्चित स्थिर अनेकरूपता' की ओर सार्वभौमिक गति हो रही है (बॉटमोर, 2004)। स्पेंसर ने जीव एवं समाज के बीच समानता के आधार पर समाज के उद्विकासीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आईये, अब हर्बर्ट स्पेंसर के सामाजिक उद्विकासीय सिद्धान्त को जानने से पहले उनके जीवन परिचय पर चर्चा करें।

2.2 हर्बर्ट स्पेंसर (1820–1903)

समाजशास्त्र के क्षेत्र में कौंत के विचारों को ओर अधिक स्पष्ट व उन्नत रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय इंग्लैण्ड के विद्वान हर्बर्ट स्पेंसर ने अपने हाथों में लिया। उन्होंने सामाजिक विचारधारा को एक नया मोड़ प्रदान किया। उनका नाम अग्रणीय इसलिये भी है कि उन्होंने प्राणिशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर समाज का विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया। समाजशास्त्र के संस्थापक के रूप में कौंत के नाम के साथ स्पेंसर का नाम भी लिया जाता है। आइए, पहले स्पेंसर के जीवन परिचय तथा सामाजिक परिवेश से आपको परिचित कराया जाये।

जीवन परिचय

हर्बर्ट स्पेंसर का जन्म 27 अप्रैल 1820 को डर्बी के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ। उनके पिता, जार्ज स्पेंसर एक स्कूल अध्यापक थे। उनके परिवार के सभी सदस्य कट्टर परम्परा विरोधी तथा व्यक्तिवादी प्रवृत्ति वाले थे। स्पेंसर अपने माता-पिता की नौ सन्तानों में सबसे बड़े थे लेकिन वह अकेले ही युवा अवस्था प्राप्त कर पाये थे। इसीलिये कह सकते हैं कि अपने विकास सम्बन्धी सिद्धान्त में उन्होंने सर्वोपयुक्त की उत्तरजीविता (Survival of the fittest) के विचार का प्रतिपादन किया था। स्पेंसर को कोई औपचारिक शिक्षा नहीं मिल पायी तथा उनके पिता तथा चाचा ने उन्हें घर पर ही शिक्षित किया। वह केवल कुछ निश्चित अवधि के लिए किसी छोटे निजी विद्यालय में अवश्य गये थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उनका सर्वोत्तम प्रशिक्षण गणित में हुआ था। प्राकृतिक विज्ञान, साहित्य, इतिहास आदि जैसे अन्य विषयों में कोई व्यवस्थित प्रशिक्षण ने पाने के बाद भी उन्होंने जैविक तथा मनोविज्ञान पर उच्चकोटी की कृतियाँ लिखी।



यन्त्रशास्त्र में भी स्पेंसर की रुचि बाल्यावस्था से रही थी और 1837 में उन्होंने रेल रोड इंजीनियरी के क्षेत्र में इंजीनियर के रूप में काम करना शुरू किया। किन्तु बाद में रेल कम्पनी का काम बन्द होने पर 1841 में वे अपने घर डर्बी लौट आये। उनके बाद उन्होंने अत्यधिक पढ़ना और सामाजिक लेखन करना प्रारम्भ किया। उनके लेख परम्परा विरोधी थे परन्तु बहुत से लोग इन्हें पढ़ने में रुचि लेते थे। वह सन् 1848 में सुप्रतिष्ठित अंग्रेजी पत्रिका दि ईकोनॉमिस्ट (The Economist) के उप-सम्पादक हो गये और कुछ वर्ष बाद यहाँ से उन्होंने त्याग-पत्र देकर स्वतंत्र रूप से लेख लिखना प्रारम्भ किया।

पत्रकारिता से स्पेंसर को एक नयी दिशा मिली। इस समय उनका सम्पर्क अनेक बड़े विद्वानों से हुआ। जब उनके चाचा का देहान्त हुआ, तब उत्तराधिकार के रूप

में उन्हें बहुत सा धन प्राप्त हुआ। इसी से उन्होंने सहायक रखे जो उनके लिये लेखन सामग्री एकत्रित किया करते थे। इन सहायकों के कारण उन्होंने अत्यधिक लेखन कार्य किया। स्पेंसर उपन्यासकार जार्ज इलियट के घनिष्ठ मित्र थे। लेकिन उनकी यह मित्रता विवाह में नहीं बदल पायी और वे जीवन भर अविवाहित रहे। 1850 में उनकी प्रथम कृति सोशल स्टेटिक्स (Social Statics) प्रकाशित हुई थी। उनकी इस पुस्तक को विद्वान वर्ग में प्रतिष्ठा मिली। इस पुस्तक में उन्होंने अपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के विचारों को दिया। इस पुस्तक के कारण कुछ विद्वानों ने उन्हें कौन्त के विचारों के विस्तार का दोषारोपण किया लेकिन उन्होंने कहा कि उन्होंने कौन्त का नाम सुना है, वह उनके विचारों से अवगत नहीं थे। ये लेख उनके खुद के थे। उन्होंने यह भी बताया है कि प्रारम्भ में उनकी पुस्तक का नाम डेमोस्टेटिक्स (Demostatics) था।

कौन्त के जीवनकाल में समाज में जिस तरह अव्यवस्था थी, उसी तरह की अव्यवस्था स्पेंसर के जीवन काल में भी रही। स्पेंसर प्रगति में विश्वास रखते थे और ऐतिहासिक अध्ययन तथा समाज के क्रमबद्ध विकास में उनका अत्यधिक विश्वास था।

स्पेंसर पर चार्ल्स डार्विन की पुस्तक **ओरिजन आफ स्पीशिस** (The Origin of Species, 1859) का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। उन्होंने डार्विन के विकास सम्बन्धी विचारों को समाज के विकास के संदर्भ में देखा। उनका मानना था कि डार्विन द्वारा प्रतिपादित 'प्राकृतिक चयन' (Natural Selection) तथा 'सर्वोपयुक्त की उत्तरजीविता' (Survival of the fittest) सिद्धान्तों के आधारभूत विचारों की सर्वप्रथम विवेचना की। उन्होंने मुक्त बाजार के सिद्धान्त का समर्थन किया, जिसका उस समय के अर्थशास्त्री भी समर्थन कर रहे थे। जीवन के अन्तिम समय में स्पेंसर ने ऐसा महसूस किया कि उनकी पुस्तकों को उतनी प्रतिष्ठा नहीं मिली, जितनी की उन्हें मिलनी चाहिये थी। 08 सितम्बर, 1903 में 83 वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया।

2.3 सामाजिक उद्विकास (Social Evolution)

हर्बर्ट स्पेंसर की कृतियों, जैसे—**सोशल स्टेटिक्स** (Social Statics) 1850, **द स्टडी ऑफ सोशियोलॉजी** (The Study of Sociology) 1873, **प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी** (Principles of Sociology) 1875—1876, आदि में सामाजिक उद्विकास सम्बन्धी विचारों को प्रमुखता से देखा जा सकता है। स्पेंसर का मानना था कि जैविक उद्विकास और सामाजिक उद्विकास समानान्तर प्रक्रियाएं हैं। जिस प्रकार जैविक उद्विकास एक सरल समान या समरूप संरचना से एक जटिल, बहुरूपी या विषम संरचना की ओर होता है, उसी प्रकार सामाजिक विकास की संरचनायें भी सरलता से जटिलता की ओर विकसित होती हैं। स्पेंसर के विचारों पर चार्ल्स डार्विन की पुस्तक **द ओरिजन ऑफ स्पीशिस** (1859) का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। इस रचना ने उनकी विचाराधारा पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाला कि किस प्रकार संसार में एक कोशकीय जीव से मानव जैसे बहुकोशकीय जटिल जीव की ओर जीवन का विकास हुआ है। इसलिये उनका मानना था कि उद्विकास एक सार्वभौम, शास्वत एवं सर्वव्यापी प्रक्रिया है जो सभी जगह एक ही तरह से सम्पादित होती है।

स्पेंसर के अनुसार सामाजिक प्रक्रिया अनोखी होती है। इसलिये समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में उद्विकास के प्रारम्भिक स्तरों पर उद्विकास के नियमों को लागू करके समाज के वर्तमान स्तर की विवेचना करनी चाहिये। इस प्रकार उनके अनुसंधान में उद्विकासवादी सिद्धान्त का प्रमुख स्थान था।

स्पेंसर का उद्विकासवादी सिद्धान्त

स्पेंसर का कहना था कि संसार के सभी तत्व चाहे वह जीवित हो या निर्जीव, सामाजिक हो अथवा असामाजिक सभी उद्विकास के नियमों द्वारा संचालित होते हैं। उद्विकास का आधारभूत मूल्य एकीकरण और विभेदीकरण है। तत्व अनश्वर तथा परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशीलता के कारण विभेदीकरण होता है और उसके बाद एकीकरण। स्पेंसर ने हर बार सामाजिक और जैविक उद्विकास की समानताओं का उल्लेख किया है।

स्पेंसर का समस्त ज्ञान इस मान्यता पर आधारित था कि सम्पूर्ण संसार और उसमें मानव के स्थान को समझने का केन्द्र बिन्दु उद्विकास ही है। उद्विकास की अवधारणा भी इस मान्यता पर केन्द्रित है कि प्रकृति के विभिन्न स्वरूप चाहे वह पहाड़ हो या नदी, वृक्ष हों या घास, जीव-जन्तु हो या पक्षी, चाहे मानव हो सभी समान बुनियादी भौतिक तत्व के स्वरूप तथा रूपान्तरण होते हैं। उद्विकास अपेक्षाकृत असीमित, असम्बद्ध समरूपता से एक निश्चित, सम्बद्ध असमरूपता की ओर परिवर्तन है। उद्विकास के कारण किसी भी इकाई की संरचना और प्रकार्यों में परिवर्तन होता है। आकार में वृद्धि होने से विभेदीकरण बढ़ता है। आकार के बढ़ने से उसकी संरचना में जटिलता बढ़ती है।

अतः सभी प्रकार का ज्ञान हमारी अनुभूत दुनिया के विभिन्न रूपान्तरण के जुड़ाव की क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूपरेखा होती है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में मौजूद परिवर्तन की यह बुनियादी प्रक्रिया ही उद्विकास है। व्यवस्थित परीक्षण योग्य रूपरेखा से हमारा अर्थ उन विचारों से है जो पृथ्वी पर होने वाले परिवर्तनों के विकास की प्रक्रिया है।

सामाजिक उद्विकास जीवों के समान विखण्डन की अवस्थाओं से विकसित होते हैं। शुरुआत में जीवों के अंगों में समानता होती है। जैसे-जैसे उनका विकास बढ़ता जाता है, अंग एक-दूसरे से भिन्न होते जाते हैं। अंगों के विकास और भिन्न होने से अंगों में अन्तःनिर्भरता बढ़ जाती है। सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया में समाज के विभिन्न अंग जैसे-जैसे विकसित होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके विभिन्न अंगों के बीच श्रम-विभाजन और विशेषीकरण भी बढ़ते जाते हैं। समाज अपनी आरम्भिक अवस्था में शिकार करने वाला, गुलाम बनाने वाला, सरल खेती करने वाला और साधारण औजारों का निर्माण करने वाला था। समाज के विकास के साथ उसके अंग असमान होते जाते हैं। व्यवस्थाओं के जटिल होने और विकसित होने का अर्थ है कि असमानता बढ़ती जाती है, प्रत्येक इकाई का प्रकार्य अलग हो जाता है परन्तु इनमें सम्बद्धता और अन्तःनिर्भरता बढ़ जाती है (हुसैन, 2010)।

जीव वैज्ञानिक शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार्यों को करने की प्रक्रिया को शारीरिक श्रम-विभाजन मानते हैं। परन्तु समाज वैज्ञानिक समाज में पाये जाने वाले कार्यों के विभाजन को श्रम-विभाजन की संज्ञा देते हैं तथा इसे सामाजिक घटना मानते हैं। सरल आदिवासी समाजों में बहुत कम श्रम विभाजन और विशेषीकरण होता है। सरल समाज असमान अंगों की अन्तःनिर्भरता से जटिल समाज बनते हैं। उदाहरण के लिये आप परिवार, स्कूल, राज्य आदि संस्थाओं के विशिष्ट प्रकार्यों की चर्चा कर सकते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाज की विभिन्न इकाईयों के बीच श्रम-विभाजन और विशेषीकरण की प्रक्रिया बढ़ने से उनमें पृथकता बढ़ जाती है बल्कि उन इकाईयों के बीच अन्तःनिर्भरता विकसित होती है जैसे-राज्य तथा अन्य संस्थाओं के मध्य सम्बद्धता और आत्मनिर्भरता विकसित हुई।

स्पेंसर ने उद्विकास की प्रक्रिया में विकास सरलता से जटिलता की ओर होता है। इसी कारण उन्होंने कहा है कि आरम्भ में समाज सरल होते हैं, आगे चलकर जटिल होते हैं, फिर दोहरे सम्मिश्रित समाज होते हैं फिर तिगुने सम्मिश्रित समाज हो जाते हैं आदिम समाज सरल होते हैं, सामंती किसान समाज जटिल होते हैं। आरम्भिक औद्योगिक समाज दोहरे सम्मिश्रित समाज होते हैं। स्पेंसर का मानना था कि उनके समय में ब्रिटेन तिगुने सम्मिश्रित समाज की अवस्था में था। अतः सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया कुछ निश्चित अवस्थाओं से होकर संचालित होती है। इस प्रक्रिया के दौरान समाज का सरल स्तर जटिलता तक पहुँच जाता है। स्पेंसर के अनुसार आधुनिक समाज तीन चरणों से गुजरता है, वे हैं— (i) आदिम (Primitive), (ii) बर्बर (Savage), और (iii) औद्योगिक (Industrial)।

इस प्रकार परिवर्तन की सभी प्रक्रियाएँ एक समान होती हैं चाहे वह भौतिक तत्व हो या सामाजिक। वे भौतिक पदार्थों से उत्पन्न होती हैं, रूपान्तरण तथा परिवर्तन का अपना स्वरूप रखती हैं और अपने स्वरूप के अनुसार यथासमय वे नष्ट हो जाते हैं तथा प्रकृति में फिर मिल जाते हैं। इस प्रक्रिया में वे इसी तरह परिवर्तित होती हैं।

परिवर्तन या विकास की सभी प्रक्रियाएँ समान होती हैं चाहे वह मनुष्य में हो या समाज में। वे इस तरह परिवर्तित होती हैं :-

1. सरलता की दशा से एक व्यवस्थित जटिलता की दशा की ओर,
2. अनिश्चितता की दशा से निश्चितता की दशा की ओर,
3. एक ऐसी दशा से जहाँ उसके हिस्से अपेक्षाकृत अविशिष्ट होते हैं, विशिष्टता की दशा की ओर, जिसमें उसके हिस्से तथा प्रकार्य जटिल विशिष्टीकरण से युक्त होते हैं,
4. एक अस्थायी दशा से स्थायी दशा की ओर, पहली दशा में काफी समान इकाईयों की बहुलता होती है और वे अपेक्षाकृत अपने व्यवहार में असंगत तथा असम्बद्ध होती हैं जबकि दूसरी दशा में अपेक्षाकृत कम हिस्से होते हैं। आज मानव प्राणी इतने जटिल रूप से संगठित तथा जुड़े हुए हैं कि उनका व्यवहार नियमित, संगत तथा पुर्वानुमानित है (Fletcher, 2000)।

एल.ए. कोजर (1996) ने कहा है कि स्पेंसर ने रेखीय उद्विकास की चर्चा की है लेकिन बाद में उन्होंने बहुरेखीय उद्देश्य को भी स्वीकार किया है। स्पेंसर का मूल्यांकन कभी भी एक जैसा नहीं हुआ। अधिकतर विद्वानों ने उन्हें प्राकृतिक उद्विकासवादी के रूप में स्वीकार किया। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उद्विकासवाद की अधिक आलोचना होने लगी। इस समय में भी इमाइल दुर्खीम ने जो स्पेंसर से बहुत प्रभावित थे परन्तु सहमत नहीं थे। उन्होंने कहा स्पेंसर ने सर्वप्रथम समाजशास्त्र में प्रकार्यवाद का प्रयोग किया। उन्होंने चार्ल्स डार्विन के जैविक सिद्धान्तों को समाज और संस्कृति में लागू किया। सामाजिक उद्विकास को प्रचारित किया, परन्तु डार्विन ने जीव जगत से अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिये जैसे प्रमाण एकत्रित किये, उस प्रकार के प्रमाण स्पेंसर ने सामाजिक उद्विकास को प्रभावित करने के लिये नहीं किये।

बोध प्रश्न

(i) हर्बर्ट स्पेंसर के सामाजिक उद्विकास के सम्बन्ध में तीन पंक्तियाँ लिखिये?

.....

(ii) समाज का विकास अनिश्चित असम्बद्ध समानता से निश्चित सम्बद्धकी ओर होता है।

(अ) विकास

(ब) परिवर्तन

(स) जटिलता

(द) घनिष्ठता

(iii) स्पेंसर का मानना था कि जैविक उद्विकास और सामाजिक उद्विकास समानान्तर प्रक्रियायें हैं। सत्य/असत्य

2.4 सारांश

हर्बर्ट स्पेंसर ने जीव एवं समाज के बीच समानता के आधार पर समाज के उद्विकासीय सिद्धान्त को स्थापित किया। उनके अनुसार पदार्थ अविनाशी एवं गतिमान होता है। गत्यात्मकता ही उद्विकास का आधार है। समाज ब्रह्माण्ड की गत्यात्मकता के कारण ही सदैव परिवर्तनशील है। प्रारम्भ में समाज बहुत ही सरल था। परिवर्तन की प्रवृत्ति के कारण ही विभेदीकरण भी बढ़ता गया। विशेष रूप से उद्विकास में दो प्रक्रियाएँ ही आधार हैं— एक विभेदीकरण की ओर और दूसरी एकीकरण की। सामाजिक इकाइयों के आकार में विकास के साथ-साथ ही उसकी संरचना में भी वृद्धि होती है। मूलतः स्पेंसर उद्विकास की प्रक्रिया को एकीकरण की ही प्रक्रिया मानते हैं। अतः निष्कर्ष रूप में स्पेंसर ने समाज के उद्विकास को एक अनिश्चित असम्बद्ध समानता से निश्चित सम्बद्ध जटिलता की ओर विकसित होता हुआ माना है।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

विकास— एक लम्बे समय में धीरे-धीरे परिवर्तन की प्रक्रिया या फैलाव से है जैसे—एक कोशकीय जीव से बहुकोशकीय प्राणी का विकसित होना।

उद्विकास— जब परिवर्तन में निरन्तरता ही नहीं होती, बल्कि परिवर्तन की दिशा भी एक होती है, तब ऐसे स्वाभाविक परिवर्तन को उद्विकास कहते हैं।

श्रम विभाजन— किसी काम को कई भागों अथवा छोटी प्रक्रियाओं में विभाजित करना ही श्रम विभाजन है। ये छोटी प्रक्रियायें अलग-अलग व्यक्तियों या समूहों द्वारा सम्पादित की जाती हैं और इस प्रकार कार्य की गति बढ़ जाती है।

विभेदीकरण— एक-दूसरे से भिन्न तत्वों का संगठन। उदाहरणतः भारतीय समाज को एक विभेदीकृत समाज माना जाता है, क्योंकि इसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं, धर्मों तथा संस्कृति के लोग रहते हैं।

प्राकृति चयन का नियम— यह चार्ल्स डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त का अंश है। भौतिक या सामाजिक जगत में अस्तित्व के लिये संघर्ष। चयन की सहज प्रक्रिया, जो लोग भौतिक और सामाजिक वातावरण में सबसे अधिक सशक्त हैं वही जीवित रहते हैं कमजोर का कोई स्थान नहीं होता।

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

- (i) स्पेंसर का सिद्धान्त डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त पर आधारित था। विकास की अवधारणा इस बात पर आधारित होती है कि प्रकृति के हर रूप में परिवर्तन होता है और परिवर्तन की इस प्रक्रिया में समाज सदैव सरलता से जटिलता की ओर परिवर्तित होता है।
- (ii) (स) जटिलता।
- (iii) सत्य।

2.7 संदर्भ ग्रन्थ

Coser, Lewis A. (1996) **Masters of Sociological Thought**, Jaipur, Rawat Publications.

Fletcher, Ronald (2000) **The Making of Sociology : A Study of Sociological Theory**, Vol-I, Jaipur Rawat Publications.

हुसैन, मुजतबा (2010) **समाजशास्त्रीय विचारक**, हैदराबाद, ओरियंट ब्लैकस्वान।

जैन, शोभिता (सम्पादित) (1991) **समाजशास्त्रीय सिद्धान्त**, नई दिल्ली, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय।

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बॉटमोर, टी.बी. (2004) समाजशास्त्र : समस्याओं और साहित्यों का अध्ययन, दिल्ली, ग्रन्थ शिल्पी।

सिंह, जे.पी. (1999) सामाजिक परिवर्तन : स्वरूप एवं सिद्धान्त, नई दिल्ली, प्रेंटिस-हाल आफ इण्डिया।

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. उद्विकास क्या है? हर्बर्ट स्पेंसर ने उद्विकासीय चिन्तन की आधारभूत मान्यताओं की समीक्षात्मक विवेचना कीजिये।
2. उद्विकास के नियम क्या हैं? सामाजिक घटनाओं की व्याख्या में इन नियमों का प्रयोग करने पर स्पेंसर को क्या निष्कर्ष प्राप्त होते हैं?

इकाई 03 – जैविक अनुरूपता (Organic Analogy)

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 समाज की सावयवी अवधारणा
 - 3.2.1 समाज और सावयव के मध्य सादृश्यता
 - 3.2.2 समाज और सावयव के मध्य भिन्नतायें
- 3.3 सारांश
- 3.4 पारिभाषिक शब्दावली
- 3.5 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर
- 3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 3.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.8 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में हर्बर्ट स्पेन्सर के जैविक अनुरूपता सम्बन्धी विचारों पर चर्चा की जायेगी। आप यह भी समझ पायेंगे कि समाज तथा जीव के मध्य समानताएं तथा विभिन्नता किस प्रकार से पायी जाती हैं। स्पेन्सर ने जैविक जीव तथा समाज में कुछ अन्तर के माध्यम से जैविक अनुरूपता की व्याख्या की है।

3.1 प्रस्तावना

स्पेन्सर का समाजशास्त्रीय योगदान दो मुख्य विचारों पर केन्द्रित था। पहला सामाजिक उद्विकास जिसको आपने इकाई 04 में समझा है और दूसरा जैविक अनुरूपता या सावयवी सादृश्यता कहलाता है। समाज को सामाजिक जीव अनेक विद्वानों ने कहा है परन्तु स्पेन्सर ने विस्तार से समाज एवं जीव में एक सादृश्य (Analogy) स्थापित की है। वास्तव में सावयवी दृष्टिकोण सामाजिक समष्टि की एकात्मकता से जुड़ा है।

3.2 समाज की सावयवी अवधारणा (Organismic Concept of Society)

स्पेन्सर की सर्वाधिक प्रतिष्ठा उनके द्वारा स्थापित समाज की प्राणिशास्त्रीय अवधारणा के कारण है। स्पष्ट ढंग से प्राणिशास्त्रीय या सावयवी उद्विकास के सिद्धान्त को उन्होंने समाज पर भी लागू किया और यह निष्कर्ष निकाला कि समाज भी एक

सावयव है क्योंकि इन दोनों में अनेक समानताएं हैं और दोनों के उद्विकास की प्रक्रिया भी एक जैसी है।

स्पेंसर का मानना था कि समाज एक वास्तविक यथार्थ है तथा उन्होंने इस विचार का खण्डन किया कि समाज केवल वैचारिक अस्तित्व है। इसी कारण उनका विश्वास था कि समाज एक विशेष प्रकार का यथार्थ है जो वास्तव में उपस्थित होता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न इकाईयों से बने होने के बावजूद एक सामान्य समानता को बनाये रखना एक सामूहिक अस्तित्व को प्रमाणित करता है (हुसैन, 2010)। इसीलिये उन्होंने समाज का एक सावयवी प्रारूप तैयार किया जो जटिल और गत्यात्मक था। उन्होंने अपनी पुस्तक **प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी** के एक अध्याय का शीर्षक "समाज एक जीव है" रखा।

उनका विश्वास था कि एक समान अस्तित्व के रूप में जीव से कुछ अधिक तथा उससे भिन्न होता है। यद्यपि मानव प्राणी समाज के अंग होते हैं। यह सामाजिक संगठन के तत्वों और उनके पारस्परिक प्रकार्यों की मिली-जुली व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति अपनी सामाजिक क्रिया की पद्धति को अपनाते हैं। समाज एक अधि जैविक अस्तित्व (Super Organic Entity) है और जीव के स्तर से ऊपर उठा हुआ अपने आप में ही एक अस्तित्व है (शोभिता जैन, 1991)।

इस स्थापना का अनुसरण करते हुए स्पेंसर ने इस विचार को मानने से इन्कार कर दिया कि समाज बहुत से व्यक्तियों की सामूहिकता के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। उसके अनुसार समाज बहुत से व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं अपितु उससे अलग एक अस्तित्व होता है। सम्पूर्ण अपने हिस्सों से कुछ अधिक होता है। जिस प्रकार एक मकान ईंटों, लकड़ी तथा पत्थर के मात्र एकीकरण से कुछ ज्यादा होता है, उसी प्रकार समाज भी केवल सभी मनुष्यों की सामूहिकता ही नहीं है बल्कि अपने आप में एक अस्तित्व है। इसमें विभिन्न हिस्सों की एक निश्चित क्रमबद्धता समाहित होती है। परन्तु स्पेंसर एक व्यक्तिवादी विचारक था, इसीलिये उनका विश्वास था कि जैविक जीवों के विपरीत, जहाँ विभिन्न हिस्से सम्पूर्ण के लाभ के लिये अस्तित्व में रहते हैं, समाज में "सम्पूर्ण" विभिन्न हिस्सों के लिये अस्तित्व में रहता है अर्थात् समाज का अस्तित्व व्यक्तियों के लिये है (टिमाशेफ, 1967)।

इस इकाई में आगे आप मानव समाज और जैविक जीव के बीच समानताओं को स्पष्ट रूप से समझ जायेंगे।

3.2.1 समाज और सावयव के मध्य सादृश्यता

मानव समाज की एक जीव से तुलना करते हुए, स्पेंसर का अभिप्राय जैविक अनुरूपता से है। स्पेंसर ने यह अनुभव किया कि समाज तथा जीव में समानताओं के साथ-साथ भिन्नताएं हैं। इस सादृश्य में शाब्दिक दृष्टि से केवल कार्यात्मक समानताओं का वर्णन होता है। समाज तथा जीव में मुख्य समानताएँ हैं:

1. समाज तथा सावयव का विकास धीरे-धीरे होता है। समाज एक जीव के समान और अकार्बनिक वस्तुओं के विपरीत अपने जीवन और अस्तित्व के अधिकांश

- समय में बढ़ता है और अपने आकार में वृद्धि करता जाता है। इस प्रकार आकार में वृद्धि के दृष्टिकोण में दोनों ही जड़ पदार्थ से भिन्न हैं।
2. जैविक उद्विकास के समान ही समाज के आकार की वृद्धि सरलता से जटिलता की ओर होती है। अतः समाज जैसे-जैसे विकसित होता जाता है उसी प्रकार समाज की संरचना अधिक से अधिक जटिल होती चली जाती है। आकार में वृद्धि संरचनात्मक जटिलताओं को भी विकसित करता है।
 3. संरचना के विकास के साथ-साथ चाहे वह जीव के क्षेत्र में हो अथवा समाज के क्षेत्र में हो, उनके कार्यों में विभेदीकरण और विभाजन बढ़ जाता है। समाज और जीव के विकास के रूप में उनके विभिन्न अंग एक-दूसरे से पृथक हो जाते हैं और प्रत्येक इकाई का प्रकार्य भी अलग-अलग हो जाता है। सरल शब्दों में संरचना के बढ़ने से जीव और समाज दोनों में ही कार्य अधिक हो जाते हैं।
 4. उद्विकास की इस प्रक्रिया में समाज और जीवों की संरचना और कार्यों में जो विभेदीकरण होता है। उससे विभिन्न इकाईयों में अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता देखने को मिलती है। यह विभेदीकरण ना केवल संरचना में होता है बल्कि इनके कार्यों में भी होता है।
 5. समाज और जीव की अनुरूपता को देखें तो इसका अर्थ यह होता है कि प्रत्येक जीव एक समाज है जिसके अलग-अलग अंग हैं।
 6. जैविक जीव अनेक कोष्ठों से बनता है, उसी प्रकार समाज का निर्माण अनेक व्यक्तियों द्वारा होता है।
 7. एक समाज और एक जीव में भी जब जीवन समाप्त हो जाता है, जब सम्पूर्णता में उसकी मृत्यु हो जाती है तब भी कम से कम कुछ समय के लिये उनके अंग अलग-अलग रूप से जीवित रहते हैं और सक्रिय रहते हैं। स्पेंसर ने कहा इन समानताओं के आधार पर मानव समाज को एक जैविक जीव के रूप में देखा जा सकता है (हुसैन, 2010)।

हर्बर्ट स्पेंसर ने इस बात का खण्डन किया है कि समाज व्यक्तियों की सामूहिकता का संग्रह मात्र नहीं होता। अपितु अपने आप में एक अस्तित्व है। इसमें विभिन्न हिस्सों की एक निश्चित क्रमबद्धता होती है। इसीलिये उनका विश्वास था कि जैविक जीवों के विपरीत (विभिन्न इकाईयों का सम्पूर्णता के लिये योगदान या अस्तित्व में रहना) समाज का अस्तित्व व्यक्तियों के लिये है।

3.2.2 समाज और सावयव के मध्य भिन्नतायें

समाज और सावयव के मध्य उपरोक्त समानतायें होते हुए भी कुछ आधारभूत भिन्नतायें भी हैं। स्पेंसर ने जीव एवं समाज में निम्न भिन्नताओं को बताया है:

1. एक जैविक जीव का निर्माण अनेक कोष्ठों से होता है। वे एक सम्पूर्ण समष्टि का निर्माण करते हैं, जिससे सभी अंग ठोस रूप से एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव ही नहीं होता। इसके विपरीत समाज एक बिखरी हुई समष्टि है। समाज की इकाई व्यक्ति है जो अलग-अलग और स्वतन्त्र होते हैं। जैसे- घरेलू संस्थाएँ, धार्मिक संस्थाएँ, आर्थिक संस्थाएँ इत्यादि।
2. जीव में चेतन शक्ति केन्द्रित होती है इसमें प्रत्येक इकाई की कोई शक्ति नहीं होती है। जीवों में कार्यों का विभेदीकरण इस प्रकार होता है कि अनुभव और विचार की क्षमताएँ एक ही जगह किसी इकाई में केन्द्रित होती हैं। सामान्य रूप से कह सकते हैं कि जीवों में मस्तिष्क जैसा एक केन्द्रीय अंग होता है जो सभी इकाईयों को नियन्त्रित करता है एवं एक प्रकार से वह जीव की समस्त क्रियाओं का भी नियंत्रण करता है। इसके विपरीत समाज में प्रत्येक इकाई की पृथक चेतन शक्ति होती है। सरल शब्दों में चेतना की क्षमता, अनुभव और दुःख सभी व्यक्तियों में फैले हुए होते हैं।
3. जीव में प्रत्येक इकाई का योगदान उसकी सम्पूर्णता को बनाये रखने अथवा जीवित रखने के लिये होता है। मानव शरीर के विभिन्न अंग सम्पूर्ण मानव शरीर के लिये हैं। इसके विपरीत समाज सभी सदस्यों के कल्याण के लिये जीवित है। समाज अपने सदस्यों के लाभ के लिये अस्तित्व में है।

इस प्रकार स्पेंसर जब समाज और सावयव की तुलना करते हैं तो उनका मूल्यांकन एक ऐसी व्यवस्था की ओर संकेत करना होता है जिसमें समाजवादी व्यवस्था की तरह चेतन-शक्ति केन्द्रित हो। साथ ही साथ समाज के प्रत्येक सदस्य के अन्दर पृथक चेतन-शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार कर वह व्यक्तिक स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं।

बोध प्रश्न

- (i) समाज और जीवों की संरचना और कार्यों में विभेदीकरण के कारण होता है:

(अ) निश्चितता	(ब) भिन्नता
(स) अन्तःनिर्भरता	(द) समानता
- (ii) जैविक उद्विकास के समान ही समाज के आकार की वृद्धि सरलता से किस ओर होती है:

(अ) जटिलता	(ब) विभेदीकरण
(स) अनुरूपता	(द) सभी
- (iii) स्पेंसर के विचार में समाज और जीव के मध्य भिन्नता किस प्रकार है ? तीन पंक्तियों में लिखें।

.....

3.3 सारांश

सावयवी अनुरूपता के अन्तर्गत स्पेंसर ने समाज तथा सावयव के मध्य सादृश्यता तथा भिन्नता की विवेचना की है। उनका मानना था कि समाज को समझने के लिये उसकी तुलना जीव के साथ करके समझा जा सकता है। समाज एक प्राणिशास्त्रीय व्यवस्था के समान है और दोनों की संरचना और प्रकार्य एक समान है। जीव की भांति समाज का भी क्रमिक विकास सरलता से जटिलता की ओर होता है और कार्यो का विभाजन तथा संरचना की विभिन्नता इकाईयों में अन्तः सम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता देखने को मिलती है। जीव तथा समाज भी सादृश्य में शाब्दिक दृष्टि से केवल कार्यात्मक समानताओं का वर्णन होता है। परन्तु व्यवहार में स्पेंसर ने संरचनात्मक एवं कार्यात्मक समानताओं एवं विभिन्नताओं का उल्लेख किया। हर्बर्ट स्पेंसर ने सावयवी सिद्धान्त के द्वारा संचनात्मक प्रकार्यवाद की दृष्टि से पूर्वानुमान किया। समाज को एक स्वनियंत्रित व्यवस्था के रूप में देखा। सम्भवतः स्पेंसर पहले विद्वान थे जिन्होंने व्यवस्थित रूप से जीव तथा समाज की प्रकार्यात्मक संरचनात्मक विवेचना की। अन्त में हम कह सकते हैं कि स्पेंसर के अनेक विचार और टिप्पणियाँ भले ही प्रमाणित ना हो, इसके बावजूद उन्होंने प्रभावशाली वैज्ञानिक चर्चाओं और विवादों को प्रेरित किया है।

3.4 पारिभाषिक शब्दावली

प्रकार्य— प्रकार्य वे वस्तुनिष्ठ परिणाम है जो किसी व्यवस्था के अनुकूलन एवं समायोजन में वृद्धि करते हैं।

सावयववाद— यह एक ऐसा सैद्धान्तिक उपागम है जिसमें सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं की प्राणिशास्त्रीय अर्थ में व्याख्या की जाती है।

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक विश्लेषण— सामाजिक घटनाओं को समाज की संरचना तथा इनके भागों के प्रकार्यात्मक सम्बन्धों के संदर्भ में विश्लेषण हेतु प्रयोग किये जाने वाला एक सैद्धान्तिक और पद्धतिमूलक उपागम है।

एकता— एकता का अर्थ एकीकरण से है। समाज के सदस्यों को आपस में जोड़कर रखने की भावना ही एकता है।

सावयवी एकता— जब किसी समष्टि के निर्मायक भाग समष्टि से मिलकर भी अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखते हैं, वे अपना अस्तित्व समष्टि में लोप नहीं होने देते। इस स्थिति को सावयवी एकता कहते हैं। प्राणी शरीर के विभिन्न अंग अलग-अलग कार्य करते हुए भी एक दूसरे से सम्बद्ध होकर एक समष्टि (शरीर) की रचना करते हैं।

3.5 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

(iv) 'स'— अन्तःनिर्भरता

(v) 'अ'—जटिलता

(vi) जीवों में कार्यों का विभेदीकरण इस प्रकार होता है कि अनुभव और विचार की क्षमतायें किसी इकाई में केन्द्रित अर्थात् मस्तिष्क में केन्द्रित होती हैं जबकि समाज में प्रत्येक इकाई की पृथक चेतन शक्ति होती है।

3.6 संदर्भ ग्रन्थ

हुसैन, मुजतबा (2010) समाजशास्त्रीय विचारक, हैदराबाद, ओरियंट ब्लैकस्वान।

टिमाशेफ, निकोलस एस. (1967) सोशियोलॉजिकल थ्योरी : इट्स नेचर एण्ड ग्रोथ, न्यूयार्क, रैनडॉम हाउस।

जैन, शोभिता (सम्पादित) (1991) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, नई दिल्ली, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय।

3.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बॉटमोर, टी.बी. (2004) समाजशास्त्र: समस्याओं और साहित्य का अध्ययन, दिल्ली, ग्रन्थ शिल्पी।

Marshall, Gordon (ed) (1997) **A Dictionary of Sociology**, New York, Oxford University Press.

Fletcher, Ronald (2000) **The Making of Sociology : A Study of Sociological Theory**, Vol-I, Jaipur, Rawat Publications.

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. हर्बर्ट स्पेंसर के जैविक अनुरूपता सम्बन्धी विचारों की विस्तृत विवेचना कीजिये।
2. समाज और जीव के मध्य सादृश्यता तथा भिन्नता के संदर्भ में हर्बर्ट स्पेंसर के विचारों की व्याख्या कीजिये।

इकाई 04 –समाज के प्रकार : सैनिक और औद्योगिक

Types of Societies: Militant and Industrial

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 समाजों का विकास : वर्गीकरण तथा तुलना
- 4.3 सारांश
- 4.4 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.5 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर
- 4.6 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 4.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद स्पेंसर के द्वारा दिये गये समाज के विकास के विभिन्न चरणों तथा समाज के प्रकारों का समझ सकेंगे। यहाँ आप सैनिक समाज तथा औद्योगिक समाज की विशिष्टताओं के साथ-साथ उनके विकास को भी समझ सकते हैं।

4.1 प्रस्तावना

स्पेंसर ने सामाजिक और राजनीतिक संगठन के ऐतिहासिक उद्विकास की विस्तृत विवेचना की है। उनका मानना है कि जब समाज एक अभिन्न और सीमित खानाबदोशी झुण्ड के रूप में था। तब राज्य अपना समस्त ध्यान सैनिक संगठन, विजय और प्रादेशिक विस्तार के ऊपर केन्द्रित करता था। परन्तु जैसे-जैसे समय में निरन्तरता आती है उसका ध्यान अधिकाधिक उद्योग के विकास की ओर जाता है। उस अवस्था में राजनीतिक उद्विकास की प्रक्रिया सैनिक समाज से औद्योगिक समाज में रूपान्तरित हो जाती है। समाज का विकास अनिश्चितता की दशा से निश्चित दशा की ओर होता है। अर्थात् सरलता से जटिलता की ओर होता है। आइये आगे आप स्पेंसर के अनुसार समाज के उद्विकास तथा समाज के प्रकारों की विस्तृत व्याख्या को जानेंगे।

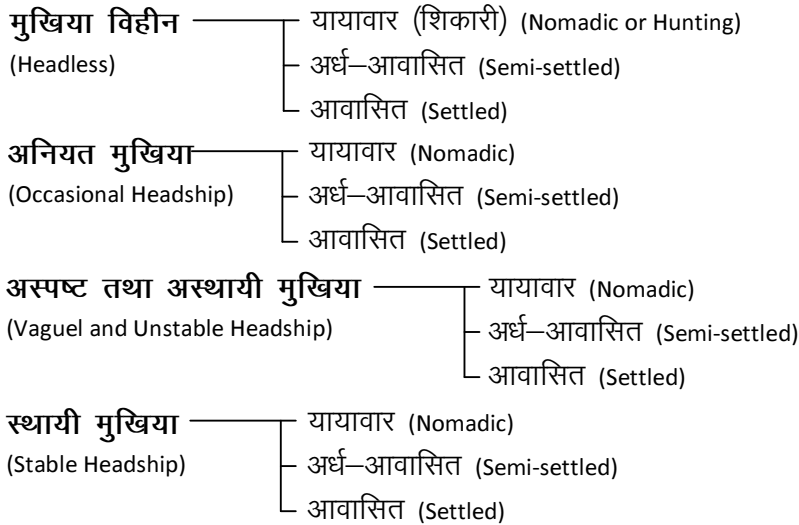
4.2 समाजों का विकास : वर्गीकरण तथा तुलना

स्पेंसर समाजों के विकास की स्थापना के लिए दो वर्गीकरण प्रारूप बनाना चाहते थे। पहले प्रारूप में सामाजिक विकास की प्रक्रिया में समाज अपने संघटन (Ogranization) की श्रृंखला के आधार पर सरल से सम्मिश्र समाज (Compound Society) के विभिन्न

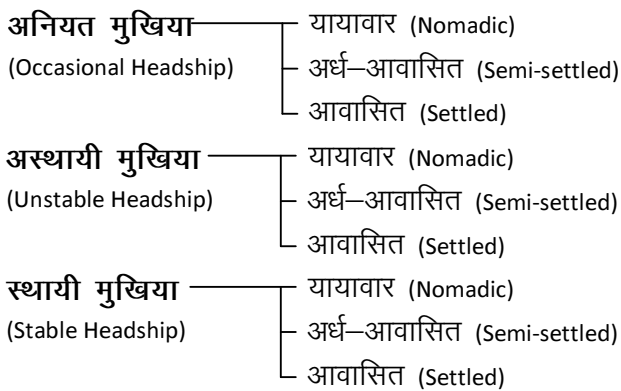
अवस्थाओं की ओर क्रियाशील होता है। स्पेंसर समाजों को चार भागों में बांटने का प्रस्ताव करता है: (i) सरल समाज, (ii) यौगिक समाज, (iii) दोहरे यौगिक समाज और (iv) तिहरे यौगिक समाज। ये भेद मुख्यतः स्तर (या आकार) के अर्थों में लगाये गये हैं लेकिन इसके साथ जुड़ी परिघटनाओं जैसे अधिक विस्तृत श्रम विभाजन, अधिक व्यापक राजनीतिक संगठन, विकसित पुरोहिताई पदानुक्रम, सामाजिक स्तरीकरण इत्यादि का भी ध्यान रखा गया है। लेकिन इस वर्गीकरण की उपयोगिता कम लगने लगी है जब महसूस होता है कि पहले तीन सामाजिक प्रकारों में केवल आदिम समाज हैं जबकि चौथे वर्ग में तमाम सभ्य समाजों को एक साथ इकट्ठा कर दिया गया है जिसमें स्पेंसर के मुताबिक प्राचीन मेक्सिको, असीरियाई साम्राज्य, रोमन साम्राज्य, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और रूस शामिल है (बॉटमोर, 2004)।

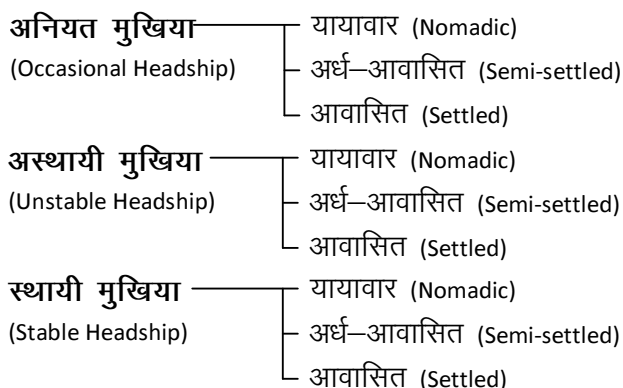
समाज के विकास के रूप को इस प्रकार से प्रदर्शित किया गया है:

(i) सरल समाज (Simple Societies)



(ii) यौगिक या सम्मिश्र समाज (Compound Societies)



(iii) दोहरे यौगिक समाज (Doubly Compound Societies)

(स्रोत : Fletcher, 2000:278-80)

आप उक्त आरेख द्वारा स्पेंसर द्वारा स्थापित समाजों के विकास की प्रक्रिया को समझ गये होंगे। स्पेंसर का मानना है कि कुछ सरल समाजों के योग से सम्मिश्र समाज उत्पन्न होते हैं, कुछ सम्मिश्र समाजों के योग से दोहरे सम्मिश्र समाजों का जन्म होता है। कुछ दोहरे सम्मिश्र समाजों के योग से तिहरे समाज उत्पन्न होते हैं (इन्हें उपरोक्त आरेख में प्रदर्शित नहीं किया गया है)। स्पेंसर के अनुसार सरल समाजों में परिवार होते हैं, सम्मिश्र समाजों में परिवारों से मिलकर बने कुल होते हैं, दोहरे सम्मिश्र समाजों में कुलों से मिलकर बने जनजातीय समूह होते हैं और तिहरे सम्मिश्र समाजों में, जैसा हमारा सभ्य समाज (Civilized Nations) है अर्थात् जनजातीय समूहों से मिलकर बने राष्ट्र और राज्य होते हैं (टिमाशेफ, 1967:41)।

दूसरा वर्गीकरण प्रारूपों की संरचना पर आधारित है, जो वास्तव में नहीं पाया जाता है किन्तु विभिन्न समाजों के विश्लेषण तथा उनके बीच तुलना करने में यह सहायक हो सकती है। यहाँ स्पेन्सर ने विकास के एक भिन्न प्रकार अर्थात् सैन्य से औद्योगिक समाज तक विकास को बताया है जिसकी व्याख्या निम्नलिखित है:

(i) युद्धप्रिय समाज (Militant)

युद्धप्रिय समाज एक ऐसा समाज होता है जिसमें आक्रामक तथा सुरक्षात्मक सैन्य कार्यवाही के लिए संगठन (Regulating System for dominant) किया जाता है। इस प्रकार के समाज की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं:

- इन समाजों के सदस्यों के बीच सम्बन्ध अनिवार्य सहयोग (Compulsory Co-operation) के आधार पर होते हैं।
- सत्ता और सामाजिक नियंत्रण अत्यधिक केन्द्रीकृत होता है।
- समाज की सत्तात्मक तथा संस्तरणात्मक प्रकृति उनके विचारों तथा विश्वासों से प्रदर्शित होती है।
- मिथकों तथा विश्वासों की अधिकता जो समाज के संस्तरण स्वरूप को दृढ़ करती है।

- कठोर अनुशासन वाला कठिन जीवन और सार्वजनिक तथा निजी जीवन के बीच घनिष्ठ एकरूपता होती है।

(ii) औद्योगिक समाज (Industrial Society)

औद्योगिक समाज में फौजी कार्यकलाप तथा संगठन समाज के लिए बाह्य होते हैं। समाज मानव उत्पादन तथा कल्याण विशेष रूप से आर्थिक तथा सभ्य प्रक्रियाओं पर ध्यान सकेन्द्रित करता है। औद्योगिक समाज की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:

- इन समाजों में व्यक्तियों के वैयक्तिक अधिकारों (Personal Rights) को दृढ़ता से माना जाता है।
- इनमें स्वैच्छिक सहयोग (Voluntary Co-operation) की प्रधानता होती है।
- सरकार के राजनीतिक नियंत्रण से आर्थिक क्षेत्र (Economic Affairs) को अलग रखा जाता है।
- मुक्त समितियों और संस्थाओं का विकास होता है।

स्पेंसर ने कहा कि विकास के शुरुआती चरणों में उन समाजों के जीवित रहने की संभावना सबसे अधिक थी जिनमें युद्ध के लिए सबसे मजबूत संगठन था। स्पेंसर ने अपनी कोटि 'सरल समाज' में दो भेद किये हैं: एक वे जिनमें कोई मुखिया नहीं था और दूसरे वे जिनमें कभी-कभी या अस्थायी मुखिया होता है। केवल 'दोहरे यौगिक समाजों' के ही स्तर पर व्यापक राजनीतिक संगठन पाया जाता है। उनके मुताबिक युद्ध ने 'यौगिक समाजों' को और 'दोहरे यौगिक समाजों' की ओर भी ज्यादा सुदृढ़ किया (बॉटमोर, 2004:144)।

स्पेंसर का मानना था कि प्राचीन काल के समाज युद्धवादी थे परन्तु आधुनिक समाज उद्योगवादी होते हैं। युद्धवादी समाज सामूहिक रूप से संरक्षणवादी रूप से रहता है। औद्योगिक समाज में व्यक्तिगत कार्य तथा सेवाओं के अनुसार समाज का निर्माण होता है। सामाजिक सहयोग तथा संगठन की दृष्टि से युद्धवादी समाज में अनिवार्य सहयोग होता है, आदेशों में एकरूपता होती है। औद्योगिक समाज में स्वैच्छिक सहयोग होता है। स्वायत्त समूह अपने-अपने ढंग से समन्वित होते हैं (हुसैन, 2010)।

युद्धवादी समाज में राज्य एवं व्यक्ति के सम्बन्ध राज्य प्रधान होते हैं। व्यक्ति राज्य के लिए कार्य करता है तथा स्वतंत्रता व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं परिवर्तन का निषेध होता है। औद्योगिक समाज में व्यक्तिवादिता प्रधान होती है तथा निजी संगठनों को प्रोत्साहित किया जाता है। युद्धप्रिय समाज में राज्य की संरचना केंद्रीकृत होती है, जबकि औद्योगिक समाज में राज्य की शक्तियाँ विकेंद्रीकृत हो जाती है।

युद्धप्रिय समाज में व्यक्तिगत एवं सामाजिक रूप से राज्य प्रधानता, श्रद्धा, अधिकारियों में विश्वास आत्मनिर्भरता और अनुशासन की प्रधानता थी। इसके विपरीत औद्योगिक समाज में सम्मान, दमन का प्रतिकार, व्यक्तिवादिता तथा अंतर्निर्भरता को प्रोत्साहन दिया जाता है।

उनका समाज का यह विभेदीकरण समाजों के आंतरिक संगठन व नियंत्रण के लिए है। वह व्यक्तिगत रूप से औद्योगिक समाज के पक्षधर थे। इन दो शब्दों युद्ध

प्रधान तथा औद्योगिक समाज के रूप में नहीं समझना चाहिए। यह अन्तर तो केवल समाजों के सम्बन्ध को समझने के लिए किया गया है।

स्पेंसर ने ऐतिहासिक महत्व के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने सैनिक किस्म के समाज और औद्योगिक किस्म के समाज के बीच फर्क दिया। सैनिक समाज में जहाँ काम युद्ध के मातहत था, वहीं आधुनिक पश्चिमी देशों की तरह के औद्योगिक समाज में युद्ध काम के मातहत था (बॉटमोर, 2004:267)। यहाँ हम कह सकते हैं कि सैनिक समाज में राजनीतिक व्यवस्था द्वारा ही आर्थिक प्रक्रिया भी संचालित होती है, जबकि औद्योगिक समाज में आर्थिक प्रक्रिया स्वतंत्र रूप से कार्य करती है।

स्पेंसर यह मानते हैं कि किसी भी समाज को इन दोनों में से किसी प्रारूप में पूरी तरह ठीक उतरने की आवश्यकता नहीं है। विभिन्न वर्गीकृत समाज केवल वर्गीकरण में प्रतिरूपों का प्रयोजन सिद्ध करते हैं।

बोध प्रश्न

(iv) युद्धप्रिय समाज की मुख्य विशेषता है—

- | | |
|----------------------------------|------------------|
| (अ) अन्तःनिर्भरता | (ब) गतिशीलता |
| (स) मुक्त समितियाँ तथा संस्थायें | (द) आत्मनिर्भरता |

(v) औद्योगिक समाज का लक्षण है—

- | | |
|---------------------|-----------------------|
| (अ) अनिवार्य सहयोग | (ब) राज्य प्रधानता |
| (स) स्वैच्छिक सहयोग | (द) राज्य केन्द्रीकृत |

(vi) युद्धप्रिय समाज एवं औद्योगिक समाज के बीच पाये जाने वाले दो अन्तरों को लिखिये।

4.3 सारांश तथा आलोचना

स्पेंसर समाजशास्त्र के द्वारा लोगों को यह दिखाना चाहते थे कि मानव को समाज में चल रही सहज प्रक्रिया में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। वह स्वतंत्रता की सहज प्रवृत्ति में विश्वास रखता था और उनका मानना था कि इस सहज प्रवृत्ति में कोई हस्तक्षेप किया जायेगा तो वह नुकसानदायक होगा।

उन्होंने समाजों के विकास में वर्गीकरण के दो प्रारूप दिये हैं, जिसमें वह प्रक्रिया तथा संरचना दोनों की व्याख्या करते हैं। उनका मानना था कि सरकार को विकास की प्रक्रिया में हस्तक्षेप करना बंद कर देना चाहिए। उन्होंने सरकार को शिक्षा, आर्थिक गतिविधियाँ आदि गतिविधियाँ करने से मना किया तथा अहस्तक्षेप की नीति अर्थात् मुक्त बाजार के समाज (जिसमें राजनीतिक व्यवस्था का कोई हस्तक्षेप नहीं होता तथा व्यक्ति प्रतिस्पर्धा के लिए स्वतंत्र होते हैं) को सभी समाजों में सर्वश्रेष्ठ माना है।

स्पेंसर ने अपना अध्ययन समाजों के बीच विभेदीकरण या विकास तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के आने में ज्ञान, युद्ध के प्रभावों और अन्य कारकों पर भी विचार किया (बॉटमोर, 2004:274)।

समाज को अति जैविक व्यवस्था के रूप में समझने के बारे में स्पेंसर की अवधारणा में कई समस्याएँ आयीं। उन्होंने संस्कृति को एकीकृत समाज का एक हिस्सा नहीं माना है। समाजों की सरल समाज से यौगिक समाज की ओर सामाजिक विकास से सम्बन्धित उनकी व्याख्या भी त्रुटिपूर्ण थी।

स्पेंसर संरक्षणवादी थे और योजनाबद्ध विकास के समर्थक नहीं थे। उन्होंने कहा 'वह राज्य और सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करे।' उन्होंने समाज का विकास का विश्लेषण उद्विकासीय सिद्धान्त के माध्यम से किया।

4.4 पारिभाषिक शब्दावली

समाज— समाज को व्यक्तियों के एक संकलन के रूप में देखा जा सकता है। समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें हम रहते हैं। यह कार्यविधियों, पद तथा भूमिकाओं, उनके समूहों एवं श्रेणियों, मानवीय व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की एक व्याख्या है।

सरल समाज— यह समाज अपेक्षाकृत धीरे-धीरे परिवर्तित होने वाला एक ऐसा समाज होता है जिसमें सामाजिक भूमिका का निर्धारण मुख्यतः जन्म, नातेदारी, आयु, जाति के आधार पर होता है।

औद्योगिक समाज— इसमें एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था होती है जिसमें उत्पादन की विधि के रूप में शक्ति संचालित मशीनों का उपयोग किया जाता है तथा यहाँ उद्योगवाद के सभी लक्षण पाये जाते हैं।

श्रम विभाजन— श्रम विभाजन में कार्य के प्रत्येक भाग को किसी पृथक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह द्वारा किया जाता है। किसी समाज में किसी कार्य को करने वाले लोगों के बीच सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं एवं सेवाओं के विभाजन की प्रक्रिया श्रम विभाजन है।

4.5 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

(vii) 'द'— आत्मनिर्भरता

(viii) 'स'— मुक्त समितियाँ तथा संस्थायें

(ix) युद्धप्रिय एवं औद्योगिक समाज में अन्तर निम्न प्रकार से है—

1. युद्धप्रिय समाज में अनिवार्य सहयोग होता है जबकि औद्योगिक समाज में स्वैच्छिक सहयोग।
2. युद्धप्रिय समाज में राज्य की संरचना केन्द्रीकृत होती है जबकि औद्योगिक समाज में राज्य विकेन्द्रीकृत होता है।

4.6 संदर्भ ग्रन्थ

बॉटमोर, टी.बी. (2004) समाजशास्त्र: समस्याओं और साहित्य का अध्ययन, दिल्ली, ग्रन्थ शिल्पी।

टिमाशेफ, निकोलस एस. (1967) सोशियोलॉजिकल थ्योरी : इट्स नेचर एण्ड ग्रोथ, न्यूयार्क, रैनडॅम हाउस।

हुसैन, मुजतबा (2010) समाजशास्त्रीय विचारक, हैदराबाद, ओरियंट ब्लैकस्वान।

Fletcher, Ronald (2000) **The Making of Sociology : A Study of Sociological Theory**, Vol-I, Jaipur, Rawat Publications.

4.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Coser, Lewis A. (1996) **Masters of Sociological Thought**, Jaipur, Rawat Publications.

Collins, R. (1985) **Three Sociological Traditions**, Oxford, Oxford University Press.

4.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. हर्बर्ट स्पेंसर द्वारा दिये गये समाज के प्रकारों की विवेचना कीजिये।
2. युद्धप्रिय समाज और औद्योगिक समाज के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिये।

इकाई 05— ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)

इकाई की रूपरेखा

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 जीवन परिचय - मार्क्स
- 5.3 ऐतिहासिक भौतिकवाद का अर्थ व परिभाषा
- 5.4 विभिन्न युगों में भौतिकवादी व्याख्या सारांश
 - 5.4.1 सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि
- 5.5 सारांश
- 5.6 शब्दावली
- 5.7 संदर्भ ग्रन्थ
- 5.8 बोध प्रश्न
- 5.9 निबन्धात्मक प्रश्न
- 5.10 संदर्भ ग्रन्थ
- 5.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

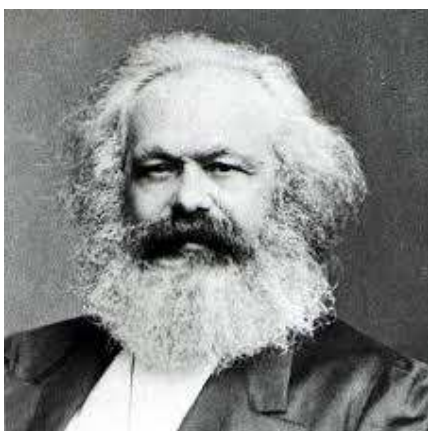
5.0 उद्देश्य

इस इकाई में मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद सम्बन्धी विचारों पर चर्चा की जायेगी। आप यह भी समझ पायेंगे कि सामाजिक-आर्थिक संरचना में होने वाले परिवर्तन कुछ निश्चित वस्तुनिष्ठ नियमों के अन्तर्गत आते हैं। इसके परिणामस्वरूप एक प्रकार की सामाजिक-आर्थिक संरचना ले लेती है।

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई की विषयवस्तु ऐतिहासिक भौतिकवाद है। ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्स के द्वारा विकसित किया गया एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिसके द्वारा उसने समाज के विकास एवं परिवर्तन की भौतिकवादी एवं समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की। मार्क्स के पूर्व सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या तात्त्विक या आध्यात्मिक रूप से की जाती थी। परन्तु मार्क्स ने सर्वप्रथम समाज की ऐसी व्याख्या करके उसे एक वैज्ञानिक आयाम दिया। अतः ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में समाजशास्त्र को मार्क्स ने एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है।

5.2 जीवन परिचय - मार्क्स



कार्ल मार्क्स आधुनिक एवं वैज्ञानिक साम्यवाद तथा अधिकांश समाजवादी विचारधाराओं के सर्वमान्य जनक हैं। वैसे तो साम्यवाद की चर्चा अति प्राचीन है और मार्क्स के पहले प्लेटो, सेंट साइमन, फोरियर, लुई, ब्लांक, रॉबर्ट आवेन आदि विद्वानों ने भी राष्ट्रीय सम्पत्ति के उचित वितरण तथा विभिन्न वर्गों में सहयोगी सम्बन्ध, पर बल देते हुए समाज की नई व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की थी; परन्तु

इन समाजवादी विचारकों के विचार मुख्यतः राजनीतिक अथवा धार्मिक आधारों पर आधारित थे। मार्क्स ने ही सर्वप्रथम साम्यवाद को न केवल एक नवीन और मौलिक रूप प्रदान किया बल्कि उसे ऐसे सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित किया जोकि दिन-प्रतिदिन दृढ़तर ही होता जा रहा है। आज शायद ही कोई ऐसा देश हो जहां इस 'वाद' के मानने वाले लोग न हों। समग्र संसार के श्रमिक और क्रान्तिकारी आन्दोलन मार्क्स के प्रभावशाली विचारों ने प्रभावित हुए हैं। इसीलिए उन्हें 'अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा के महान् शिक्षक और नेता कहा जाता है। इस दृष्टि से मार्क्स संसार के न केवल महान् अपितु युग-प्रवर्तक विचारकों में से हैं। ई. स्तेपानोवा का तो दावा है कि मार्क्सवाद मानवता को पथ-प्रदर्शक ध्व-तारे की भांति, कम्यूनिज्म का रास्ता दिखा रहा है।

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई 1918 को एक यहूदी परिवार में हुआ था। उनका जन्म प्रशिया के राईन प्रान्त के ट्रीचर नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता मध्यवर्गीय वकील थे। उनकी माता हालैंड की एक यहूदी महिला थी। छः वर्ष की अवस्था तक उनका पालन-पोषण यहूदी संस्कारों के अनुरूप हुआ। लेकिन 1824 ई० में सम्पूर्ण परिवार ने यहूदी धर्म त्यागकर ईसाई धर्म को अपना लिया। यहूदी धर्म के प्रति मार्क्स की धारणा आजीवन विपरीत रही। मार्क्स अपने पिता की नौ संतानों में सबसे बड़े थे। वे बचपन से अपने घर की अपेक्षा अपने पड़ोसी के घर में अधिक आत्मीयता महसूस करते थे। उनकी शिक्षा 1830 से 1835 तक ट्रिचर के एक स्कूल में सम्पूर्ण हुई। उन्होंने अपने स्कूल की अन्तिम परीक्षा के लिए जो निबन्ध चुना था उसका विषय था- 'पेशा चुनने के सम्बन्ध में एक तरुण के विचार'। उनके इस निबन्ध के चयन से ही पता चलता है कि उन्होंने मानवता की त्यागपूर्ण सेवा करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझी थी। मार्क्स को अपने पड़ोसी की पुत्री जेनी वान वेस्ट फैलन से गहरा लगाव था जो धीरे-धीरे

प्रेम में परिणत हो गया। लेकिन मार्क्स एवं जेनी का कौमार्य प्रेम आसानी से विवाह सम्बन्ध में परिणत नहीं हो सकता। इसका एक कारण यह था कि जहां जेनी अद्वितीय सुन्दरी थी वहीं मार्क्स सूरज की रोशनी में भी महा बदसूरत दिखते थे। अर्थात् दोनों सुन्दरता में एक दूसरे के विपरीत थे। इसके अलावा मार्क्स साधारण परिवार से आते थे एवं जेनी कुलीन परिवार की थी। लेकिन इन सबके बावजूद जेनी ने मार्क्स से विवाह करना पसन्द किया। विवाह के लिए उसे लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक मार्क्स की शिक्षा पूरी नहीं हो गयी। 1835 में मार्क्स को उच्च शिक्षा के लिए वॉन विश्वविद्यालय में भेजा गया। माता पिता की इच्छा थी कि उनका पुत्र एक अच्छा वकील बने। इसलिए विधिशास्त्र की पढ़ाई से उनकी उच्च शिक्षा प्रारम्भ हुई। लेकिन मार्क्स का ध्यान विधिशास्त्र की अपेक्षा इतिहास एवं दर्शन की ओर अधिक था। इसलिए 1838 में अपने पिता के देहान्त के बाद उन्होंने अपनी सारी प्रतिभा को पूर्णतया इतिहास एवं दर्शन की ओर लगा दिया। मार्क्स की विचारधाराओं पर उस समय की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं का स्पष्ट प्रभाव था। पूंजीवाद का विकास हो जाने के कारण यूरोप के कई देशों में सामन्तों एवं दासों के बीच असहय एवं दुःखदायक सम्बन्ध विकसित हो चुके थे। किसानों एवं दस्तकारों के सम्बन्ध भी बिगड़ चुके थे। एक सर्वहारा वर्ग पैदा हो चुका था। यह वर्ग उत्पादन के सभी साधनों से वंचित था। समाज दो पाटों के बीच घिस रहा था। इन सबका प्रभाव मार्क्सवाद की विचारधाराओं पर गहरे रूप में पड़ा।

मार्क्स की कृतियां

कार्ल मार्क्स ने अनेक कृतियों की रचना की। ये कृतियां निम्नलिखित हैं—

1. Economic and Political Manuscript, 1843
2. The Holy Family, 1845
3. The German Ideology, Thesis on Fairbakh, 1846
4. The Poverty of Philosophy, 1847
5. Communist Manifesto, 1848
6. The class struggle in France, 1850.
7. The Eighteenth Brumayr of Louis Bonapart, 1852
8. A Contribution to the Critic of Political Economy, 1859
9. Das Capital (First Part) 1857
10. The Civil War in France,
11. The Critic of Gotha Programme, 1875
12. Das Capital (2nd Part, Pub. by Angels) 1855
13. Das Capital (3rd Part, Pub. by Angels) 1894.

उपर्युक्त पुस्तकों की सूची से पता चलता है कि मार्क्स आजीवन लेखन के प्रति समर्पित रहे। उन्होंने अनेक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन

किया। संभवतः इसीलिए इरविंग एम0 जेटलिंग ने 'Ideology and the Development of Sociological Theory' में लिखा है, 'वस्तुतः मार्क्स इस शताब्दी में जितने प्रभावशाली सिद्ध हुए उतना अन्य कोई विचारक न हो सका।

5.3 ऐतिहासिक भौतिकवाद

ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्स के विचारों की धूरी है। यह सिद्धान्त इतिहास, संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन की सभी आदर्शवादी व्याख्याओं को नकारता है। मानवशास्त्रीय दर्शन पर आधारित यह सिद्धान्त इतिहास की व्याख्या मानव द्वारा सामाजिक विश्व के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिये किये गये आर्थिक प्रयत्नों और मूलभूत आर्थिक विभिन्नताओं के कारण उत्पन्न वर्ग संघर्ष के रूप में करता है।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों में ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त एक प्रमुख सिद्धान्त है। इससे सम्पूर्ण विश्व के इतिहास में एक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। यह मानव इतिहास की गतिविधि को नियन्त्रित करता है। इस सिद्धान्त के द्वारा मार्क्स ने हीगल द्वारा प्रस्तुत इतिहास की आदर्शात्मक व्याख्या के स्थाप पर अपनी भौतिवादी व्याख्या की प्रतिष्ठा की है। ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियादी बातों को मार्क्स ने अपनी कृति जर्मन विचारधारा में प्रस्तुत की है। मार्क्स को यह मूलभूत ऐतिहासिक नियम भौतिक मूल्यों के उत्पादन में समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियों से प्राप्त हुआ था। मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त में बताया है कि सामाजिक-आर्थिक संरचना में होने वाले परिवर्तन कुछ निश्चित वस्तुनिष्ठ नियमों के अन्तर्गत आते हैं। इसके परिणामस्वरूप एक प्रकार की सामाजिक-आर्थिक संरचना ले लेती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहास की उस दिशा की खोज करता है जो सभी निर्णायक ऐतिहासिक घटनाओं को चलाने वाली महत्वपूर्ण शक्ति है। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सम्बन्ध में एंगेल्स ने लिखा है कि मार्क्स पहले ऐसे विचारक थे जिन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा को समाजविज्ञानों में रखा। ऐतिहासिक भौतिक के अतिरिक्त मार्क्स का दूसरा बड़ा योगदान अतिरिक्त मूल्य का है। मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को दार्शनिक विवेचना के आधार पर निरूपित किया है। मार्क्स ने पूंजीवाद की नृशंस कार्यवाही को नजदीक से देखा था। इसलिए उन्होंने लिखा कि दार्शनिकों ने विभिन्न विधियों से विश्व की केवल व्याख्या की है, लेकिन प्रश्न विश्व को बदलने का है। मार्क्स एवं हीगल के दर्शन के सम्बन्ध में सेबाइन ने राजनैतिक दर्शन का इतिहास में लिखा है, 'दोनों व्यक्ति इतिहास के प्रवाह को तर्कसंगत ढंग से आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि यह प्रवाह एक सुनिश्चित योजना के अनुसार संचालित होता है और एक सुनिश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

माक्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सारतत्व निम्नलिखित कहे जा सकते हैं—

(1) जीवन एवं जीवित रहने के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं या मूल्यों के उत्पादन एवं पुनः उत्पादन पर ऐतिहासिक विकास निर्भर करता है।

(2) मानव अस्तित्व के लिए सर्वप्रथम उसका जिन्दा रहना आवश्यक है। इसके लिए भोजन, वस्त्र एवं आवास सर्वप्रथम आवश्यकता है।

(3) मनुष्य को पहले भोजन, वस्त्र एवं आवास चाहिए। इसके बाद ही वह धर्म कला, आदर्श एवं राजनीति के सम्बन्ध में सोचता है। इस सम्बन्ध में माक्स एवं एंगेल्स ने 'The German Ideology' में लिखा है, 'सर्वप्रथम ऐतिहासिक कार्य उन साधनों का उत्पादन है जिससे कि भोजन, वस्त्र और आवास आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, अर्थात् स्वयं भौतिक जीवन का उत्पादन ही सर्वप्रथम ऐतिहासिक कार्य है। वास्तव में, यही एक ऐसा ऐतिहासिक कार्य है जो कि हजारों वर्ष पहले की भांति आज भी मानव जीवन को बनाये रखने के लिए परम आवश्यक है अर्थात् समस्त इतिहास की एक बुनियादी शर्त है।'

(4) उत्पादन प्रणाली ही समाज के संगठन और उसकी विभिन्न संस्थाओं अर्थात् ऐतिहासिक घटनाओं को निर्धारित करती है।

(5) इतिहास में सभी प्रमुख परिवर्तन उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण ही हुए हैं।

(6) इतिहास का विकास विचार, आत्मा या आदर्श पर आधारित नहीं होता है बल्कि उसका वास्तविक आधार समाज का आर्थिक जीवन, उत्पादन शक्ति एवं उत्पादन सम्बन्ध है।

(7) भौतिक मूल्यों के उत्पादन क्रिया में सबसे आधारभूत, सबसे अधिक आवश्यक एवं सबसे अधिक सामान्य ऐतिहासिक घटना है। इतिहास का निर्माण असंख्य साधारण व्यक्तियों के द्वारा होता है।

5.4 विभिन्न युगों में भौतिकवादी व्याख्या (Materialist Interpretation of Different Ages)

माक्स के अनुसार उत्पादन प्रणाली के प्रत्येक परिवर्तन के साथ लोगों के आर्थिक सम्बन्ध एवं सामाजिक व्यवस्था आदि में भी परिवर्तन हो जाता है। उन्होंने इस दृष्टिकोण से मानव इतिहास को पांच युगों में विभाजित किया है। ये पांच युग हैं— आदिम साम्यवादी युग, दासत्व युग, सामन्तवादी युग, पूंजीवादी युग तथा समाजवादी युग। माक्स का कथन है कि इनमें से तीन युग समाप्त हो चुके हैं, चौथा युग चल रहा है एवं पांचवा अभी शेष है। ये पांच युग हैं— 1. आदिम साम्यवादी युग 2. दासत्व युग 3. सामन्तवादी युग 4. पूंजीवादी युग और 5. समाजवादी युग।

1. आदिम साम्यवादी युग: यह युग इतिहास का प्रारम्भिक युग है। इस युग में उत्पादन के साधन किसी व्यक्ति-विशेष के नहीं, बल्कि पूरे समुदाय के होते थे। उत्पादन और वितरण साम्यवादी ढंग से होता था। पहले-पहल पत्थर के औजार और बाद में तीर-धनुष से लोग फल-मूल इकट्ठा करते तथा पशुओं का शिकार करते थे। जंगलों से फल इकट्ठा करने, पशुओं का शिकार करने, मछली मारने, रहने के लिए किसी न किसी प्रकार का 'घर' बनाने और ऐसे ही अन्य कार्यों में सब लोग मिल-जुलकर काम करने को बाध्य होते थे, क्योंकि परिस्थितियां ही कुछ इस प्रकार की थीं कि ये सब काम अकेले नहीं किये जा सकते थे। संयुक्त श्रम के कारण ही उत्पादन के साधनों पर तथा उनसे मिलने वाली वस्तुओं पर सबका अधिकार होता था। उस समय उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार की धारणा का अभाव था। इसलिए वर्ग-प्रथा न थी, और न ही किसी प्रकार का शोषण।

2. इसके बाद दासत्व युग का आविर्भाव हुआ। दास-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों पर दास के मालिकों का अधिकार होता था, साथ ही साथ उत्पादन कार्य को करने वाले श्रमिकों अर्थात् दासों पर भी उनका अधिकार होता था। इन दासों को उनके मालिक पशुओं की भांति बेच सकते थे, खरीद सकते थे या मार सकते थे। इस युग से खेती और पशुपालन का आविष्कार हुआ और धातुओं के औजारों को उपयोग में लाया गया। इस युग में निजी सम्पत्ति की धारणा विकसित हुई, सम्पत्ति कुछ लोगों के हाथों में अधिकाधिक एकत्र होने लगी तथा सम्पत्ति के अधिकारी इस अल्पसंख्यक ने बहुसंख्यक को दास बनाकर रखा। पहले की भांति अब लोग स्वेच्छा से मिल-जुलकर काम नहीं करते थे, बल्कि उन्हें दास बनाकर उन्हें जबरदस्ती काम लिया जाता था। इस प्रकार समाज दो वर्गों- दास तथा अनेक मालिक में बंट गया। इस शोषक तथा शोषित वर्गों में संघर्ष भी स्वाभाविक था।

3. तीसरा युग सामन्तवादी युग था। इस युग में उत्पादन के साधनों पर सामन्तों का आविष्कार होता था। ये सामन्त उत्पादन के साधनों, विशेषतः भूमि के स्वामी होते थे। गरीब अर्द्ध-दास किसान इन सामन्तों के अधीन थे। उत्पादन का कार्य इन्हीं भूमिहीन किसानों से करवाया जाता था। किसान दास न थे, पर उन पर अनेक प्रकार के बन्धन थे। इन्हें सामन्तों की भूमि की भी जुताई-बुआई आदि बेगार के रूप में करनी पड़ती थी और युद्ध के समय उनको सेना में सिपाहियों के रूप में काम करना पड़ता था। इन सबसे बदले में उन्हें अपने सामन्तों से अपने निर्वाह के लिए भूमि मिलती थी। निजी सम्पत्ति की धारणा इस युग में और भी प्रबल हुई और सामन्तों द्वारा किसानों का शोषण भी प्रायः दासत्व युग की भांति होता था। इन दोनों में संघर्ष और भी स्पष्ट था।

4. चौथा युग आधुनिक पूंजीवादी युग है। इस युग का प्रादुर्भाव मशीनों के आविष्कार तथा बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के जन्म के फलस्वरूप हुआ इस युग में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है। उत्पादन कार्य करने

वाला दूसरा वर्ग—वेतनभोगी श्रमिक—व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र होते हैं; इस कारण दासों की भांति उन्हें पूंजीपति लोग बेच या मार नहीं सकते हैं, परन्तु चूंकि उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का कुछ भी अधिकार नहीं होता, इस कारण अपने तथा अपने परिवार के अन्य सदस्यों की भूखों मरने से बचाने के लिए उन्हें अपने श्रम को पूंजीपतियों के हाथ बेचना पड़ता है जोकि उन्हें नाम—मात्र का वेतन देते हैं। पूंजीपतियों के इस प्रकार के उत्तरोत्तर बढ़ने वाले शोषण के फलस्वरूप श्रमिकों की दशा दिन—प्रतिदिन अधिक दयनीय होती जायेगी और अन्त में श्रमिक वर्ग बाध्य होकर क्रान्ति के द्वारा पूंजीपतियों को उखाड़ फेकेगा। इस प्रकार सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्थापना होगी और समाजवादी या साम्यवादी युग के आगमन का पथ प्रशस्त होगा।

4. पांचवां और आधुनिकतम युग होगा समाजवादी या साम्यवादी युग। यह युग सर्वरूप में वर्ग—विहीन, राज्य—विहीन और शोषण रहित होगा। जैसाकि पहले भी कहा गया है, यह तभी संभव होगा जबकि पूंजीवादी व्यवस्था को खूनी क्रान्ति के द्वारा श्रमिक वर्ग उखाड़ फेकेगा और शासकीय शक्ति पर अपना अधिकार जमा लेगा। परन्तु श्रमिक वर्ग के हाथ में शक्ति आ जाने से ही समाजवाद की स्थापना या समाजवादी व्यवस्था संभव न होगी क्योंकि पूंजीवादी वर्ग का सम्पूर्ण विनाश उस स्तर पर भी न होगा और उस स्तर के बचे—खुचे लोग रह ही जायेंगे जो उस नवीन समाजवादी व्यवस्था को उलट देने का प्रयत्न करेंगे। इन लोगों का विनाश धीरे—धीरे ही होगा और इसके लिए आवश्यक तैयारी की आवश्यकता होगी। नये सिरे से समस्त समाज का पुनर्निर्माण करना होगा। यही संक्रमणकालीन युग होगा। इस युग में राज्य का प्रमुख कार्य निम्नलिखित होगा—भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व, व्यापार तथा वाणिज्य का नियमन, सम्पत्ति के उत्तराधिकार को उन्मूलन, कारखानों में बाल—श्रम का निषेध और प्रत्येक प्रकार के एकाधिकारों या विशेषाधिकारों का अन्त करना।

5.4.1 सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

मार्क्स से पूर्व समाज के विकास की व्याख्या हीगल के आदर्शवादी दर्शन के आधार पर की जाती थी। हीगलवादी दर्शन के अनुसार समाज में सर्वप्रथम वाद आता है और समाज को कुछ वादों के साथ संचालित करता है। परन्तु कोई भी वाद अपने आप में पूर्ण नहीं होता है। वह समाज के विकास को पूर्ण रूप सही दिशा नहीं दे पाता जिसके कारण समाज में उसके खिलाफ कुछ प्रतिवाद भी उत्पन्न होते हैं और यह प्रतिवाद जब समाज में बड़े पैमाने पर प्रसारित हो जाता है तो उसका वाद के साथ संघर्ष होता है जिसके कारण वाद को प्रतिवाद के साथ कुछ समझौते करने पड़ते हैं जिससे एक नई स्थिति उत्पन्न होती है, उसे

संवाद कहते हैं और कालान्तर में यह समाज के लिए वाद हो जाता है। परन्तु कुछ समय बाद इसकी भी कमियां स्पष्ट होने लगती हैं और प्रतिवाद उत्पन्न होता है। इस प्रकार सामाजिक विकास की गति चलती रहती है। यही हीगल का द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद है।

मार्क्स ने देखा कि समाज में द्वन्द्वात्मक विकास तो है परन्तु उसका आधार वैचारिक न होकर भौतिकवादी है और उसने कहा कि एक उत्पादन प्रणाली आती है और जब वह समाज की पूर्वापेक्षी आशाओं पर खरी नहीं उतरती है तो उसकी जगह दूसरी उत्पादन प्रणाली जन्म लेती है और एक नये समाज का निर्माण होता है और इस तरह समाज का विकास होता रहता है और समाज के विकास एवं परिवर्तन की यह धारा तब तक चलती रहेगी जब तक समाज में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित न हो जाये।

• ऐतिहासिक भौतिकवाद की मूल मान्यतायें

हीगलवादी दर्शन की यह मान्यता थी कि समाज अपने आप में संतुलन की अवस्था में होता है। परन्तु मार्क्स ने कहा कि समाज में हमेशा संतुलन ही नहीं होता। उसमें असंतुलन, असमानता तथा भेद भी व्याप्त होता है जिसके कारण वर्ग संघर्ष होता रहता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज की असमानता के अध्ययन का एक विशेष विज्ञान है जिसके द्वारा आर्थिक असमानता के साथ-साथ हम अधिसंरचनात्मक असमानता का भी अध्ययन कर सकते हैं।

5.5 सारांश

ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक तथ्यों की भौतिकवादी व्याख्या है। इसके अनुसार इतिहास की व्याख्या में विचारों का स्थान नहीं है। अपितु हमें समझना चाहिए कि सामाजिक संस्था और उनसे सम्बन्धित मूल्य उत्पादन के तरीकों से निर्धारित होते हैं/फिर भी मार्क्स के संदर्भ में निर्धारित शब्द का तात्पर्य निर्धारणवाद से नहीं लिया जाना चाहिए।

5.6 शब्दावली

वर्ग—	समान आर्थिक स्थिति एवं समान हित चाहने वाले लोगों का एक समूह।
अधोसंरचना—	उत्पादन प्रणाली, जिसमें उत्पादन सम्बन्ध एवं उत्पादन के साधन शामिल हैं।
अधिसंरचना—	इसके अन्तर्गत राज्य, विद्यालय, धार्मिक संस्थायें, संस्कृति, विचार, मूल्य तथा दर्शन आते हैं।

5.7 संदर्भ ग्रन्थ

बाटोमोर, टाम, 1995. मार्क्सवादी समाजशास्त्र, अनुवादक: सदाशिव द्विवेदी, मैकमिलन कम्पनी, नई दिल्ली

अग्रवाल, जी०के० 1993. प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक, एस.बी.पी.डी., आगरा

Mukherjee, R.N. 1961. Social Thought, Vivek Prakashan, Delhi.

Harikrishan Rawat, Advanced Encyclopedia of Sociology, Rawat publication, Delhi.

5.8 बोध प्रश्न

1. मार्क्स ने जिस दार्शनिक से प्रेरणा पायी उसका नाम है—

(अ) काम्ट	(ब) स्पेन्सर
(स) हीगल	(द) अरस्तु
2. निम्न में से कौन से कथन ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए स्वीकार्य नहीं हैं—
 - (अ) सभी प्राणियों में मानव प्राणीशास्त्रीय रूप से सर्वाधिक निर्धारित जीव हैं।
 - (ब) मानव प्रकृति मूलतः दुष्ट है।
 - (स) वर्ग समाज में व्यक्ति प्रसन्न रहता है।
3. ऐतिहासिक भौतिकवाद एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है/समीक्षा कीजिए?
4. मार्क्स और हीगल के सामाजिक दृष्टि में अन्तर कीजिए।
- 5.

5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की विस्तृत व्याख्या कीजिये।
2. मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विभिन्न युगों की भौतिकवादी व्याख्या की चर्चा कीजिए।

5.10 संदर्भ ग्रन्थ

बाटोमोर, टी०बी०, मार्क्सवादी समाजशास्त्र मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली।

5.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

अग्रवाल, जी०के०, प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक— साहित्य भवन पब्लिसर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा०) लिमिटेड।

पाण्डेय, गणेश, पाण्डेय अरूणा—सामाजिक विचारधारा एवं सामाजिक विचारक, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली।

मुकर्जी, राधाकमल, सामाजिक विचारधारा, विवके प्रकाशन, दिल्ली।

इकाई 6– वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class Struggle)

इकाई की रूपरेखा

- 6.0 उद्देश्य
- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 वर्ग संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा
- 6.3 वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया
 - सर्वहारा वर्ग का विकास
 - सम्पत्ति का बढ़ता हुआ महत्व
 - आर्थिक शक्ति से राजनीतिक शक्ति का उदय
 - वर्गों का ध्रुवीकरण
 - दरिद्रीकरण में वृद्धि
 - अलगाव
 - वर्ग एकता तथा क्रान्ति
 - सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद
- 6.4 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर
- 6.5 संदर्भ ग्रन्थ
- 6.6 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप मार्क्स के वर्ग संघर्ष, वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया को भलीभांति समझ सखेंगे

6.1 प्रस्तावना

सामाजिक परिवर्तन के लिये वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया सर्वाधिक महत्पूर्ण है। मार्क्स का मानना है। संसार में समय-समय पर जो क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन हुये हैं उनके लिए वर्ग संघर्ष ही उत्तरदायी रहा है। असमानता हर समय समाज में विद्यमान होती है। यह किसी भी समाज की सच्चाई होती है, जिसके कारण समाज में संघर्ष होते रहते हैं।

6.2 वर्ग संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा

मार्क्सवादी विचार के अनुसार मनुष्य साधारणतया एक सामाजिक प्राणी है, परन्तु अधिक स्पष्ट और आर्थिक रूप में वह एक 'वर्ग-प्राणी' है। मार्क्स का कहना है कि किसी भी युग में, जीविका उपार्जन की प्राप्ति के विभिन्न साधनों के कारण पृथक-पृथक वर्गों में विभाजित हो जाते हैं और प्रत्येक वर्ग में एक विशेष वर्ग-चेतना उत्पन्न हो जाती है। दूसरे शब्दों में, वर्ग का जन्म उत्पादन के नवीन तरीकों के आधार पर होता है। जैसे ही भौतिक उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होता है वैसे ही नये वर्ग का उद्भव भी होता है। इस प्रकार एक समय की उत्पादन प्रणाली ही उस समय के वर्गों की प्रकृति को निश्चित करती है।

आदिम समुदायों में कोई भी वर्ग नहीं होता था और मनुष्य प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग करते थे। जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओं का वितरण बहुत कुछ समान था क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं से कर लेता था। दूसरे शब्दों में, प्रकृति द्वारा जीवित रहने के साधनों का वितरण समान होने के कारण वर्ग का जन्म उस समय नहीं हुआ था पर शीघ्र ही वितरण में भेद या अन्तर आने लगा और उसी के साथ-साथ समाज वर्गों में विभाजित हो गया। मार्क्स के अनुसार समाज स्वयं अपने को वर्गों में विभाजित हो गया। मार्क्स के अनुसार समाज स्वयं अपने को वर्गों में विभाजित कर लेता है— यह विभाजन धनी और निर्धन, शोषक और शोषित तथा शासक और शासित वर्गों में होता है।

आधुनिक समाज में आय के साधन के आधार पर तीन महान् वर्गों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें प्रथम वे हैं जो श्रम शक्ति के अधिकारी हैं, दूसरे वे हैं जो पूंजी के अधिकारी हैं और तीसरे वे जो मजदूर हैं। इन तीन वर्गों की आय के साधन क्रमशः मजदूरी, लाभ और लगान हैं। मजदूरी कमाने वाले मजदूर, पूंजीपति और जमींदान उत्पादन के पूंजीवादी तरीके पर आधारित आधुनिक समाज के तीन महान् वर्ग हैं।

- 1 आधुनिक युग में, मार्क्स के अनुसार, इन तीनों वर्गों का जन्म बड़े पैमाने पर पूंजीवादी उद्योग-धन्धे के पनपने के फलस्वरूप हुआ है। पूंजीवादी क्रान्ति का यही प्रत्यक्ष प्रभाव और सर्वप्रमुख परिणाम है। एक राष्ट्र में औद्योगीकरण तथा श्रम विभाजन के फलस्वरूप सर्वप्रथम औद्योगिक तथा व्यावसायिक श्रम कृषि श्रम से और गांव शहर से पृथक हो जाता है। इसके फलस्वरूप अलग-अलग स्वार्थ समूहों का भी जन्म होता है। श्रम विभाजन और भी अधिक विस्तृत रूप से लागू होने पर व्यावसायिक श्रम भी औद्योगिक श्रम से पृथक हो जाता है।

साथ ही श्रम विभाजन के आधार पर ही उपर्युक्त विभिन्न वर्गों में निश्चित प्रकार के श्रम में सहयोग करने वाले व्यक्तियों में भी विभिन्न प्रकार के विभाजन हो जाते हैं। इन विभिन्न समूहों की सापेक्षिक स्थिति, कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य का वर्तमान स्तर व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों को भी निश्चित करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वे व्यक्ति, जो उत्पादन कार्य में क्रियाशील हैं, कुछ निश्चित सामाजिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध को स्थापित करते हैं। इस प्रकार वर्गों का जन्म जीविका-उर्पाजन के आर्थिक साधन के अनुसार होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि विभिन्न प्रकार के उत्पादन कार्यों में लगे हुये व्यक्ति समूहों में बंट जाते हैं। पर इन सबकी एकमात्र पूंजी श्रम ही होती है और अपने श्रम को बेचकर ही वे अपना पेट पालते हैं; इस कारण उनको मेहनतकश या श्रमिक-वर्ग कहा जाता है। इसके विपरीत समाज में एक और वर्ग होता है जोकि पूंजी का अधिकारी होता है और वह उसी से अन्य लोगों के श्रम को खरीदना है। यही पूंजीपति वर्ग है।

- 2 अतः मार्क्स का मत है कि मूल रूप से आर्थिक उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर समाज के दो वर्ग प्रमुख होते हैं। उदाहरणार्थ, दासत्व युग में दो वर्ग दास और उनके स्वामी थे, सामन्तवादी युग में दो प्रमुख वर्गों की सर्वप्रमुख विशेषता यह होती है कि इनमें से एक वर्ग के हाथों में आर्थिक उत्पादन के समस्त साधन केन्द्रीकृत होते हैं जिनके बल पर यह वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता रहता है जबकि वास्तव में यह दूसरा वर्ग है। आर्थिक वस्तुओं या मूल्यों का उत्पादन करता है। इससे इस शोषित वर्ग में असंतोष घर कर जाता है और वह वर्ग-संघर्ष के रूप में प्रकट होता है।

6.3 वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया

- **वर्ग और वर्ग संघर्ष (Class and Class Struggle)**

मार्क्सवादी विचार के अनुसार मनुष्य साधारणतया एक सामाजिक प्राणी है, परन्तु अधिक स्पष्ट और आर्थिक रूप में वह एक 'वर्ग-प्राणी' है। मार्क्स का कहना है कि किसी भी युग में, जीविका उर्पाजन की प्राप्ति के विभिन्न साधनों के कारण पृथक-पृथक वर्गों में विभाजित हो जाते हैं और प्रत्येक वर्ग के एक विशेष वर्ग-चेतना उत्पन्न हो जाती है। दूसरे शब्दों में, वर्ग का जन्म उत्पादन के नवीन तरीकों के आधार पर होता है। जैसे ही भौतिक उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होता है वैसे ही नये वर्ग का उद्भव भी होता है। इस प्रकार एक समय की उत्पादन प्रणाली ही उस समय के वर्गों की प्रकृति को निश्चित करती है।

- **वर्ग निर्माण के आधार (Basis of Class Formation)**

आदिम समुदायों में कोई भी वर्ग नहीं होता था और मनुष्य प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग करते थे। जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओं का वितरण बहुत कुछ समान था क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं से कर लेता था। दूसरे शब्दों में, प्रकृति द्वारा जीवित रहने के साधनों का वितरण समान होने के कारण वर्ग का जन्म उस समय नहीं हुआ था पर शीघ्र ही वितरण में भेद या अन्तर आने लगा और उसी के साथ-साथ समाज वर्गों में विभाजित हो गया। मार्क्स के अनुसार समाज स्वयं अपने को वर्गों में विभाजित हो गया। मार्क्स के अनुसार समाज स्वयं अपने को वर्गों में विभाजित कर लेता है— यह विभाजन धनी और निर्धन, शोषक और शोषित तथा शासक और शासित वर्गों में होता है।

- आधुनिक समाज में आय के साधन के आधार पर तीन महान् वर्गों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें प्रथम वे हैं जो श्रम शक्ति के अधिकारी हैं, दूसरे वे हैं जो पूंजी के अधिकारी हैं और तीसरे वे जो मजदूर हैं। इन तीन वर्गों की आय के साधन क्रमशः मजदूरी, लाभ और लगान हैं। मजदूरी कमाने वाले मजदूर, पूंजीपति और जमींदान उत्पादन के पूंजीवादी तरीके पर आधारित आधुनिक समाज के तीन महान् वर्ग हैं।
- आधुनिक युग में, मार्क्स के अनुसार, इन तीनों वर्गों का जन्म बड़े पैमाने पर पूंजीवादी उद्योग-धन्धे के पनपने के फलस्वरूप हुआ है। पूंजीवादी क्रान्ति का यही प्रत्यक्ष प्रभाव और सर्वप्रमुख परिणाम है। एक राष्ट्र में औद्योगीकरण तथा श्रम विभाजन के फलस्वरूप सर्वप्रथम औद्योगिक तथा व्यावसायिक श्रम कृषि श्रम से और गांव शहर से पृथक हो जाता है। इसके फलस्वरूप अलग-अलग स्वार्थ समूहों का भी जन्म होता है। श्रम विभाजन और भी अधिक विस्तृत रूप से लागू होने पर व्यावसायिक श्रम भी औद्योगिक श्रम से पृथक हो जाता है। साथ ही श्रम विभाजन के आधार पर ही उपर्युक्त विभिन्न वर्गों में निश्चित प्रकार के श्रम में सहयोग करने वाले व्यक्तियों में भी विभिन्न प्रकार के विभाजन हो जाते हैं। इन विभिन्न समूहों की सापेक्षिक स्थिति, कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य का वर्तमान स्तर व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों को भी निश्चित करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वे व्यक्ति, जो उत्पादन कार्यालय में क्रियाशील हैं, कुछ निश्चित सामाजिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध को स्थापित करते हैं। इस प्रकार वर्गों का जन्म जीविका-उर्पाजन के आर्थिक साधन के अनुसार होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि विभिन्न प्रकार के उत्पादन कार्यों

में लगे हुये व्यक्ति समूहों में बंट जाते हैं। पर इन सबकी एकमात्र पूंजी श्रम ही होती है और अपने श्रम को बेचकर ही वे अपना पेट पालते हैं; इस कारण उनको मेहनतकश या श्रमिक-वर्ग कहा जाता है। इसके विपरीत समाज में एक और वर्ग होता है जोकि पूंजी का अधिकारी होता है और वह उसी से अन्य लोगों के श्रम को खरीदना है। यही पूंजीपति वर्ग है।

अतः मार्क्स का मत है कि मूल रूप से आर्थिक उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर समाज के दो वर्ग प्रमुख होते हैं। उदाहरणार्थ, दासत्व युग में दो वर्ग दास और उनके स्वामी थे, सामन्तवादी युग में दो प्रमुख वर्गों की सर्वप्रमुख विशेषता यह होती है कि इनमें से एक वर्ग के हाथों में आर्थिक उत्पादन के समस्त साधन केन्द्रीकृत होते हैं जिनके बल पर यह वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता रहता है जबकि वास्तव में यह दूसरा वर्ग है। आर्थिक वस्तुओं या मूल्यों का उत्पादन करता है। इससे इस शोषित वर्ग में असंतोष घर कर जाता है और वह वर्ग-संघर्ष के रूप में प्रकट होता है।

समाज में वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया निरन्तर रूप से चलती रहती है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने कहा कि 'दुनिया के आज तक के समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।' यह स्वतन्त्र व्यक्ति और दास, भूस्वामी एवं अर्द्ध दास, उच्च तथा सामान्य वर्ग, उद्योगपति एवं श्रमिक के बीच चलने वाला संघर्ष का इतिहास है। इस संदर्भ में वर्ग संघर्ष की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विश्लेषण आवश्यक है।

● सर्वहारा वर्ग का विकास:

सर्वहारा वर्ग का विकास संघर्ष की प्रक्रिया की आरम्भिक अवस्था है, इस अवस्था में शोषित लोग धीरे-धीरे एक दूसरे से सम्बद्ध होने लगते हैं। आरम्भ में व्यक्तिगत हितों के कारण श्रमिक एक दूसरे से अलग ही रहते हैं। किन्तु मजदूरी की सामान्य समस्याओं को लेकर उनके हित सामान्यतः बनने लगते हैं। सर्वहारा वर्ग के विकास के समय श्रमिक व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा को भूलकर अपनी समस्याओं पर विचार करने लगते हैं।

● सम्पत्ति का बढ़ता हुआ महत्व

किसी भी समाज के लोगों की सम्पत्ति या धन के सम्बन्ध में क्या मनोवृत्ति है। इसी आधार पर ही लोगों के सामाजिक व्यवहार निर्धारित होते हैं। मार्क्स के अनुसार जिस वर्ग में सम्पत्ति स्वामित्व की लालसा होती है। वह पूंजीपति बन जाता है और अन्य लोग सर्वहारा वर्ग में शामिल हो जाते हैं।

- **आर्थिक शक्ति से राजनीतिक शक्ति का उदय—**

उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होने के कारण पूंजीपतिवर्ग को राजनैतिक शक्ति बढ़ने लगती है तथा वह इसका उपयोग सामान्य जनता के शोषण के लिए करने लगते हैं।

- **वर्गों का धुवीकरण—**

पूंजीपति वर्ग शीघ्र ही आर्थिक और राजनैतिक रूप से सशक्त होकर श्रमिकों एवं समाज के अन्य लोगों के शोषण में लीन हो जाता है और जो श्रमिक अपनी निम्न आर्थिक स्थिति के कारण अपनी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाते वे भी धीरे-धीरे इससे जागरूक होकर संगठित होने लगते हैं।

- **दरिद्रीकरण में वृद्धि**

मार्क्स का विचार है कि पूंजीपति वर्ग द्वारा श्रमिकों के आर्थिक शोषण के कारण उनकी आर्थिक दशा निरन्तर बिगड़ती चली जाती है। दूसरी ओर पूंजीपति वर्ग श्रमिकों से अतिरिक्त श्रम लेकर अपने अतिरिक्त मूल्य में वृद्धि करता रहता है। इस तरह धीरे-धीरे कालान्तर में समाज के पूंजीपति वर्ग पूरा समाज का संसाधन अपनी गिरफ्त में ले लेते हैं और श्रमिक तीव्र निर्धनतर के कुचक्र में फंस जाता है।

- **अलगाव**

कार्य स्थल पर मशीनों की स्थिति एवं वहां पर मजदूरों के स्वास्थ्यवर्द्धक माहौल तथा उत्पादक प्रशासन की सहयोगात्मक परिस्थितियां अच्छी न होना तथा मजदूर गरीबी के कारण अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उपभोग न कर सकने की क्षमता के कारण उत्पादन प्रणाली से उनका अलगाव होने लगता है।

- **वर्ग एकता एवं क्रान्ति**

औद्योगिक विकास के अगले स्तर में न केवल सर्वहारा वर्ग की सदस्य संख्या बहुत बढ़ जाती है। बल्कि यह वर्ग एक बहुत बड़े जनसमूह के रूप में परिवर्तित होने लगता है। जब इस वर्ग की सदस्य संख्या बढ़ती है तब वह अपने आपको अत्यधिक शक्तिशाली अनुभव करने लगता है तथा समान समस्या एवं समान हित होने के कारण सर्वहारा वर्ग में एकता स्थापित होने लगती है तथा कुछ समय बाद श्रमिक संगठित होकर पूंजीपतियों के विरुद्ध हिंसक संघर्ष आरम्भ कर देते हैं तथा समाज की सम्पूर्ण आर्थिक संरचना को बदल देते हैं।

- **सर्वहारा का अधिनायकवाद**

सर्वहारा वर्ग द्वारा जब क्रान्ति की जाती है तो इससे पूंजीवादी व्यवस्था नष्ट होकर समाज की सम्पूर्ण शक्ति सर्वहारा को प्राप्ति होती है और सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित हो जाता है।

6.4 अभ्यासार्थ बोध प्रश्न

1. वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. अब तक के समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। मार्क्स के संदर्भ में विवेचना कीजिए।

6.5 संदर्भ ग्रन्थ

बाटोमोर, टी०बी०, मार्क्सवादी समाजशास्त्र मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली।

6.6 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

अग्रवाल, जी०के०, प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक- साहित्य भवन पब्लिसर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा०) लिमिटेड।

पाण्डेय, गणेश, पाण्डेय अरूणा-सामाजिक विचारधारा एवं सामाजिक विचारक, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली।

मुकर्जी, राधाकमल, सामाजिक विचारधारा, विवके प्रकाशन, दिल्ली।

इकाई 07 – सामाजिक तथ्य (Social Facts)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 सामाजिक तथ्य

7.3 सामाजिक तथ्य-विशेषताएं

7.3.1 बाह्यता

7.3.2 बाध्यता

7.3.3 अन्य विशेषताएं

7.4 सामाजिक तथ्यों के प्रकार

7.4.1 सामान्य सामाजिक तथ्य

7.4.2 व्याधिकीय सामाजिक तथ्य

7.5 समाजों के वर्गीकरण के नियम

7.6 सारांश

7.7 पारिभाषिक भाब्दावली

7.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा:

- समाज में सामाजिक तथ्यों को परिभाषित करना,
- सामाजिक तथ्यों की विशेषताओं-बाह्यता व बाध्यता को स्पष्ट करना,
- सामाजिक तथ्यों के प्रकार-सामान्य सामाजिक तथ्य व व्याधिकीय सामाजिक तथ्यों को बताना
- समाजों के प्रकार आदि की चर्चा करना

7.1 प्रस्तावना

इस इकाई का आरंभ समाज में सामाजिक तथ्यों को दुर्खीम के अनुसार समझना है। सबसे पहले सामाजिक तथ्यों का अर्थ व परिभाषा आदि को दुर्खीम के अनुसार समझाया गया है। जिसमें दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के अध्ययन को ही समाजशास्त्र की विषयवस्तु माना है। दुर्खीम सभी मानवीय व्यवहारों को सामाजिक तथ्य मानता है जिनकी उत्पत्ति समाज में होती है। इसके साथ

सामाजिक तथ्यों की विशेषताओं— बाह्यता एवं बाध्यता तथा अन्य विशेषताओं का सविस्तार उल्लेख किया गया है। बाह्यता में— सामाजिक तथ्यों का अस्तित्व व्यक्तियों के बाहर एवं स्वतन्त्र होता है एवं बाध्यता में सामाजिक तथ्य सामूहिक चेतना की उपज होते हैं जोकि व्यक्ति के बाध्य रूप में कार्य करते हैं। सामाजिक तथ्य के प्रकार—सामान्य सामाजिक तथ्य व व्याधिकीय सामाजिक तथ्य व समाज के वर्गीकरण को सरल समाज, बहुखण्डीय सरल समाज, साधारण मिश्रित बहुखण्डीय समाज व दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज में प्रस्तुत कर समाज संदर्भ में सामाजिक तथ्यों की चर्चा—विभिन्न आधारित उदाहरणों के द्वारा विवेचना की गई है। जिसे हम आगे—सामाजिक तथ्यों को समाज संदर्भ में समझने की कोशिश करेंगे।

7.2 सामाजिक तथ्य

आइये सबसे पहले हम यहा सामाजिक तथ्य को दुर्खीम के अनुसार समझते है। दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषय—वस्तु के रूप में सामाजिक तथ्यों की विवेचना की है और बताया है कि सामाजिक तथ्य वे तथ्य हैं जो सामूहिक चेतना से सम्बन्धित हों और व्यक्तिगत चेतना से स्वतन्त्र हों। सामाजिक तथ्यों के दबाव से ही व्यक्ति एवं समूह व्यवहार करते हैं। सामाजिक तथ्यों को परिभाषित करते हुए दुर्खीम लिखते हैं, “सामाजिक तथ्य व्यवहार (विचार अनुभव या क्रिया) का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैषयिक रूप से संभव है और जो



एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को बाध्य करता है।” और दुर्खीम कहते है कि “सामाजिक तथ्य क्रिया करने का एक स्थायी अथवा अस्थायी तरीका है जो व्यक्ति पर बाहरी दबाव डालने में समर्थ होता है अथवा पुनः क्रिया करने का एक तरीका है जो किसी समाज में सामान्य रूप से पाया जाता है, किन्तु साथ ही साथ जो व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से स्वतन्त्र पृथक् अस्तित्व रखता है।”

अतः स्पष्ट है कि सामाजिक तथ्य क्रिया करने अथवा व्यवहार के तरीके हैं। इन क्रिया करने के तरीकों में दुर्खीम मानव के सोचने—विचारने और अनुभव करने के तरीकों को सम्मिलित करता है जो स्थायी अथवा अस्थायी हो सकते हैं। कुछ सामाजिक तथ्य स्थायी होते हैं। जैसे— आत्महत्या, विवाह एवं मृत्यु की संख्या में किसी भी समाज में थोड़ा—बहुत परिवर्तन होता है, इनकी वार्षिक दर लगभग स्थायी एवं स्थिर रहती है। इसलिए इन्हें सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में रखा जाता है। निवास करने के तरीकों को भी क्रिया करने का तरीका माना गया है। नगरों में जनघनत्व में वृद्धि, मकान बनाने के तरीके, रहन—सहन, और जीवन

व्यतीत करने के तरीकों को भी सामाजिक तथ्य माना गया है क्योंकि इनमें भी परिवर्तन बहुत कम होते हैं। इसी प्रकार से स्थायी और अस्थायी तरीके जो मनुष्यों की क्रियाओं, विचारों और जीवन पद्धतियों को निर्देशित करते हैं, सामाजिक तथ्य कहलाते हैं। अतः आप यहा सामाजिक तथ्य को समझ गए होंगे। आइए अब इनकी विशेषताओं पर चर्चा करते हैं।

7.3 सामाजिक तथ्य— विशेषताएं

सर्वप्रथम हम यहा सामाजिक तथ्य की विशेषताओं को जानने का प्रयास करते हैं। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की दो प्रमुख विशेषताओं को बताया है— बाह्यता तथा बाध्यता। सामाजिक तथ्यों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए इन दोनों विशेषताओं तथा तीन अन्य विशेषताओं को समझना आवश्यक है। आइये अब हम यहा इसको समझते हैं।

7.3.1 वाह्यता (Exteriority)

सामाजिक तथ्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि ये समाज वैज्ञानिक के व्यक्तिगत विचार, व्यक्तिगत चेतना और अधिकार क्षेत्र से बाहर होते हैं। इन पर व्यक्ति विशेष के विचारों या क्रिया का प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि इनका अस्तित्व व्यक्ति से स्वतन्त्र होता है। सामाजिक तथ्य का प्रथम गुण यही है की यह वाह्य होते हैं। सामाजिक तथ्यों कि वाह्यता से दुर्खीम का तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमें इनका अस्तित्व व्यक्ति से स्वतंत्र होता है। अर्थात् सामाजिक तथ्यों का संबंध न तो किसी व्यक्ति विशेष से होता है और न ही व्यक्तिगत चेतना का परिणाम होता है। इनका अस्तित्व अल्पकालिक न होकर दीर्घकालिक होता है। दुर्खीम ने यह स्पष्ट किया कि विभिन्न सामाजिक तथ्यों का निर्माण कुछ व्यक्तियों के द्वारा ही किया जाता है लेकिन एक बार जब कोई विशेषता सामाजिक तथ्य के रूप में विकसित हो जाती है तब उसका अस्तित्व व्यक्ति से स्वतन्त्र हो जाता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को वैयक्तिक तथ्यों से पृथक करके स्पष्ट बताया है। वैयक्तिक तथ्य व्यक्तिगत चेतना का परिणाम होता है जबकि सामाजिक तथ्यों का विकास सामूहिक चेतना के द्वारा होता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत चेतना सामूहिक चेतना से भिन्न होती है; उसी तरह सामाजिक तथ्यों की प्रकृति भी व्यक्तिगत तथ्यों से भिन्न होती है। सामाजिक तथ्यों में वाह्यता की विशेषता को स्पष्ट करने के लिए दुर्खीम ने अनेक उदाहरण दिए हैं।

दुर्खीम ने लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति परिवार में अपने बहुत-से दायित्वों का निर्वाह करता है। व्यक्ति द्वारा परिवार के दायित्व का निर्वाह करना उसका व्यक्तिगत गुण नहीं है बल्कि यह एक ऐसा गुण है जो उसे परिवार से प्राप्त होने वाली शिक्षा के आधार पर प्राप्त होता है। व्यक्ति को तो यह भी मालूम नहीं होता

कि वह अपने दायित्वों का निर्वाह क्यों कर रहा है? इस प्रकार दायित्व का निर्वाह करना उस सामाजिक तथ्य का परिणाम है जो व्यक्ति से वाह्य होते हैं। इसप्रकार एक व्यक्ति जब गिरजाघर या मन्दिर में जाना आरम्भ करता है तो उन्हीं धार्मिक विश्वासों तथा शिक्षाओं के अनुसार व्यवहार करने लगता है जो पहले से ही निर्धारित होती है। ऐसे सभी धार्मिक विश्वास उस व्यक्ति के आचरण के स्वरूप का निर्धारण करते हैं, यद्यपि यह विश्वास उस समय विकसित हो चुके होते हैं जब उस व्यक्ति का जन्म भी नहीं हुआ था। यहा स्पष्ट है कि सामाजिक तथ्य जिस व्यक्ति को प्रभावित करते हैं अथवा जिस पर दबाव डालते हैं, उस व्यक्ति में बहुत पहले से ही निर्मित हो चुके होते हैं।

अपनी पुस्तक के पहले अध्याय में ही दुर्खीम ने अनेक उदाहरणों के द्वारा सामाजिक तथ्यों में वाह्यता के गुणों को समझाने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार बातचीत करने का तरीका, संकेतों की भाषा, धर्म, तथा व्यावसायिक सम्बन्ध आदि अनेक ऐसे सामाजिक तथ्य हैं जो व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित और नियंत्रित करते हैं। इस आधार पर दुर्खीम ने लिखा है कि "सामाजिक तथ्यों में कार्य करने, विचार करने तथा अनुभव करने के वे सभी तरीके सम्मिलित हैं जो व्यक्ति पर बाहरी दबाव डालते हैं अतः वाह्यता दबाव के द्वारा उसके व्यवहारों को नियंत्रित करते हैं।" इस कथन से स्पष्ट होता है कि वाह्य रूप से व्यक्ति को प्रभावित करने वाले अथवा उसके व्यवहार को निर्देशित करने वाले तथ्य सामान्य रूप से समाज में ही विद्यमान रहते हैं तथा व्यक्तिक चेतन अथवा अचेतन दशा में इन्हीं तथ्यों के अनुरूप आचरण करता है।

दुर्खीम ने स्पष्ट किया कि सामाजिक तथ्य निश्चित रूप से वाह्य होते हैं लेकिन इन तथ्यों में व्यक्तिगत चेतना का कुछ-न-कुछ समावेश अवश्य होता है। इसे स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने बताया कि सामूहिक मस्तिष्क का निर्माण भी बहुत से व्यक्तियों के मस्तिष्कों के संयोजन से ही संभव होता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने संवेगों के आधार पर क्रियाएं करता है, अनुभव करता है अथवा विचार करता है। जब अलग-अलग सामूहिक गुण से संचालित होने वाले मस्तिष्कों के सम्मिलन से एक नए सामाजिक मस्तिष्क का निर्माण होता है। तब इसी से सामूहिक चेतना जन्म लेती है। इस सामूहिक चेतना तथा व्यक्तिगत चेतना के बीच होने वाले संयोजन अथवा संघर्ष के फलस्वरूप व्यक्ति के मन में कुछ नई प्रतिभाओं या धारणाओं का जन्म होता है। सामूहिक चेतना से बनने वाली यह नयी प्रतिभाएं अथवा धारणाएं ही बाद में व्यक्ति के विचारों तथा उसकी क्रियाओं का निर्धारण करती हैं।

दुर्खीम का स्पष्ट मत है कि सामूहिक चेतना का निर्माण बहुत से व्यक्तियों की चेतना के सम्मिलन से अवश्य होता है लेकिन एक बार जब सामूहिक चेतना विकसित हो जाती है तब व्यक्ति का मस्तिष्क उसके अधीन हो जाता है। इस मानसिक सत्ता के प्रभाव को ही दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की वाह्यता के रूप में

स्पष्ट किया है। सामाजिक तथ्यों में वाह्यता की विशेषता को सिद्ध करने के लिए दुर्खीम ने मुख्यतः चार तर्क प्रस्तुत किए हैं :

- 1) सर्वप्रथम, व्यक्तिगत मस्तिष्क सामूहिक मस्तिष्क से भिन्न होता है। सामूहिक मस्तिष्क एक स्वतन्त्र मानसिक सत्ता है जो व्यक्तिगत मस्तिष्क की क्रियाओं तथा विचारों को प्रभावित करती है सामाजिक तथ्य सामूहिक मस्तिष्क से सम्बन्धित होते हैं, इसीलिए वे व्यक्ति से वाह्य हो जाते हैं।
- 2) समूह-मस्तिष्क का निर्माण जिन सामाजिक परिस्थितियों में होता है, एक व्यक्ति विशेष की परिस्थितियां उससे भिन्न होती हैं। इसके फलस्वरूप भी समूह मस्तिष्क तथा व्यक्तिगत मस्तिष्क में एक स्पष्ट भिन्नता देखने को मिलती है। व्यक्ति जब समूह-मस्तिष्क के अधीन हो जाता है तब वह व्यक्तिगत इच्छा से नहीं बल्कि सामूहिक परिस्थितियों के अनुसार ही सोचता तथा व्यवहार करता है।
- 3) समाज में व्यक्ति पर वाह्य सामाजिक तथ्यों का प्रभाव इस बात से भी स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण समाज में घटित होने वाली घटनाओं में एक आश्चर्यजनक समानता देखने को मिलती है। समान परिस्थितियों में आत्महत्या, विवाह-विच्छेद तथा अपराध की दर में पायी जाने वाली एकरूपता से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक तथ्यों की वाह्य विशेषता के कारण ही समाज में सामान्य व्यवहारों को प्रोत्साहन मिलता है। इस दृष्टिकोण से भी सामाजिक तथ्य वैयक्तिक विचारों तथा क्रियाओं से वाह्य होते हैं।
- 4) सामाजिक तथ्यों की वाह्यता एक सावयव के समान है जबकि व्यक्ति इस सावयव के एक अंग की तरह होता है। जिस प्रकार सावयव से पृथक रहकर किसी अंग का अस्तित्व नहीं रहता, उसी तरह सामाजिक तथ्यों से पृथक रहकर व्यक्तिगत तथ्यों का कोई अस्तित्व नहीं होता। अतः आप यहा सामाजिक तथ्यों की वाह्यता को भली भाँति समझ गये होंगे।

7.3.2 बाध्यता (Constraint)–

आइये अब हम यहा सामाजिक तथ्य की दुसरी विशेषता बाध्यता को समझने का प्रयास करते हैं। सामाजिक तथ्यों की एक विशेषता यह है कि इनका पालन व्यक्ति के लिए बाध्यतामूलक होता है। क्योंकि इनकी उत्पत्ति व्यक्तिगत चेतना से नहीं होती वरन् ये सामूहिक चेतना के परिणाम होते हैं। सामाजिक तथ्यों की बाध्यता से दुर्खीम का तात्पर्य इनके उस गुण से है जो व्यक्ति को एक विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक तथ्य अपनी प्रकृति से केवल वाह्य ही नहीं होते बल्कि अपने दबाव-शक्ति के द्वारा यह व्यक्ति को उन कार्यों के लिए भी बाध्य करते हैं जो उसके इच्छा के विरुद्ध हो। सामाजिक तथ्य इस दृष्टिकोण से भी बाध्यतामूलक होते हैं कि व्यक्ति में सामाजिक तथ्यों को बदलने की क्षमता नहीं होती, यद्यपि सामाजिक तथ्य व्यक्तिगत व्यवहार को किसी भी रूप में बदल

सकते हैं। इसका कारण स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने बतलाया कि समूह मस्तिष्क से उत्पन्न होने वाली सामूहिक चेतना व्यक्तिगत चेतना से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है, अतः सामाजिक तथ्यों में बाध्यता का गुण आ जाना बहुत स्वाभाविक है। यह सम्भव है कि विभिन्न परिस्थितियों में कुछ सामाजिक तथ्य दूसरे सामाजिक तथ्यों की तुलना में कम या अधिक बाध्यतामूलक हो लेकिन कोई भी सामाजिक तथ्य ऐसे नहीं मिलेगा जिसमें एक विशेष स्तर की दबावकारी शक्ति न हो। दुर्खीम का कथन है कि किसी विशेष सामाजिक तथ्य में दबाव की गहनता कुछ कम होने के कारण यदि व्यक्ति ऐच्छिक रूप से कार्य करना आरम्भ कर देता है तब प्रतिक्रिया के रूप में उस सामाजिक तथ्य के बाध्यतामूलक शक्ति तुरन्त बढ़ने लगती है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक तथ्यों में एक तरह की प्रतिरोधात्मक शक्ति भी होती है। सामाजिक तथ्यों में बाध्यता की विशेषता को स्पष्ट करने के लिए दुर्खीम ने दो प्रकार के बाध्यतामूलक तथ्यों का उल्लेख किया है। इन्हें दुर्खीम ने अप्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्य तथा प्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्य कहा है।

क) अप्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्य (Indirect Constraint)—

यह तथ्य वे हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति पर दबाव डालकर उसके व्यवहारों को समाज के सामान्य व्यवहारों के अनुकूल बनाते हैं। इसका उदाहरण देते हुए दुर्खीम ने बतलाया कि प्रत्येक समाज में अनेक नैतिक मूल्य पाए जाते हैं। इन मूल्यों के उल्लंघन के विरुद्ध प्रत्येक समाज में एक निश्चित दण्ड की व्यवस्था होती है। यह आवश्यक नहीं है कि नैतिक मूल्यों के उल्लंघन पर व्यक्ति को कठोर दण्ड ही दिया जाए लेकिन इतना अवश्य है कि नैतिक मूल्य अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति को एक विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए बाध्य अवश्य करते रहते हैं। इनके प्रभाव को स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने लिखा है कि “यदि मैं अपने समाज की परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता अथवा अपनी वेश-भूषा के लिए अपने समाज या वर्ग के रीति-रिवाजों को नहीं मानता हूँ तो समाज मेरा जिस ढंग से उपहास करेगा, वह मुझे स्वयं प्रतिमानित व्यवहार करने की दिशा में ले जाएगा। इस प्रकार परम्पराओं तथा प्रथाओं की यह बाध्यता अप्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्यों का उदाहरण है। दूसरा उदाहरण देते हुए दुर्खीम ने लिखा है कि “यदि मैं एक उद्योगपति हूँ तो मैं अपनी इच्छा से हजारों वर्ष पुरानी तकनीक का उपयोग करके भी उत्पादन करने के लिए स्वतन्त्र हूँ। लेकिन यदि मैं ऐसा करता हूँ तो इसका तात्पर्य है कि मेरे बरबाद होने के दिन पास आ गये हैं। इसका विचार किये बिना भी यदि मैं पुरानी मशीनों का उपयोग करूँगा तो यह बाध्यतामूलक तथ्य कि प्रत्येक उद्योगपति को उन उपकरणों का उपयोग करना चाहिए जो दूसरे उद्योगपतियों के पास हैं, किसी-न-किसी रूप में मेरे व्यवहारों को अवश्य प्रभावित करेगा।”

ख) प्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्य (Direct Constraint)–

यह सामाजिक तथ्य वे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति पर दबाव डालकर उसकी इच्छा के विपरीत भी उसे एक विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं। इस तरह के सामाजिक तथ्य समाज के संगठन में ही निहित होते हैं। उदाहरण के लिए, जातिगत संगठन, धार्मिक संगठन तथा कानून आदि प्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्यों की प्रकृति को स्पष्ट करते हैं। इन्हें प्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्य इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह एक निश्चित दण्ड संहिता के आधार पर व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं। दुर्खीम का कथन है कि अनेक बार व्यक्ति ऐसा सोचता है कि किसी नये विचार अथवा किसी आन्दोलन को स्वीकार करने का निर्णय उसने स्वयं लिया है किन्तु यह उस व्यक्ति का भ्रम है। इसका कारण है कि सामाजिक संगठन में स्वयं ऐसे प्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्य निहित हैं जो व्यक्ति को एक विशेष ढंग से विचार करने अथवा क्रिया करने के लिए बाध्य करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि परव्यक्तिगमन के दोषी व्यक्ति पर क्रोधित होने वाली भीड़ में सम्मिलित होकर यदि हम स्वयं भी उस व्यक्ति को मारने लगे तो हम यह सोच सकते हैं कि उसे मारने का निर्णय स्वयं हमारा है लेकिन वास्तव में हम ऐसा निर्णय नैतिक संहिता के अनुसार काम करने वाली भीड़ के दबाव के अनुसार ही लेते हैं। इस प्रकार दुर्खीम ने यह स्पष्ट किया कि प्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्यों का प्रभाव अप्रत्यक्ष बाध्यतामूलक तथ्यों की तुलना में कुछ अधिक होता है। अतः आप यहाँ सामाजिक तथ्यों की बाध्यता को समझ गये होंगे। आइये अब हम आगे अन्य सामाजिक तथ्य की विशेषताओं को जानते हैं।

7.3.3 अन्य विशेषताएं–

सामाजिक तथ्यों की अन्य विशेषताओं निम्न है–

- **सामाजिक तथ्य काम करने, सोचने या अनुभव करने के तरीके हैं–**
दुर्खीम द्वारा परिभाषित सामाजिक तथ्यों से स्पष्ट है कि सामाजिक तथ्य समाज अथवा समूह में काम करने, सोचने और अनुभव करने के तरीके हैं जैसे— एक व्यक्ति अपने विवाह के बारे में सोचता है तब वह यह भी सोचता है कि विवाह के साथी का चुनाव उसके परिवार, वर्ग, जाति, शिक्षा, व्यवसाय, आर्थिक स्थिति आदि के अनुरूप हो। उसके इस सोच पर भी सामाजिक दबाव है। अतः यह सोच सामाजिक तथ्य है। हमारे व्यवहार और सोच—विचार समाज की देन हैं, समाज ही इनकी उत्पत्ति का स्रोत है।

- **सामाजिक उत्पत्ति व सार्वभौमिकता –**

सामाजिक तथ्य व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना की उपज नहीं वरन् वे सामूहिक चेतना के परिणाम हैं। इनकी उत्पत्ति समाज में होती है, समाज से होती है या इनका विकास समाज के इतिहास में जुड़ा हुआ है। जैसा समाज होगा

जैसा उसका मिजाज होगा, उसी के अनुरूप उसके सामाजिक तथ्य पाये जायेंगे। सामाजिक तथ्य सार्वभौमिक होते हैं अर्थात् उनका प्रचलन सारे समूह और समाज में पाया जाता है, सभी उनका अर्थ लगाते हैं और पालन करते हैं। सामाजिक तथ्यों में केवल उन्हीं तरीकों को सम्मिलित किया जाता है जो सम्पूर्ण समाज में सामान्य रूप से पाये जाते हैं।

- **सामाजिक तथ्य सीखे जाते हैं—**

सामाजिक तथ्य सीखे जाते हैं क्योंकि वे समाज की उपज है। अतः समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सामाजिक तथ्य सीखे जाते हैं। ये हमें वंशानुक्रमण, शारीरिक लक्षणों जैसे कालापन, गोरापन, आंख, नाक, कान एवं बालों की बनावट आदि की तरह माता-पिता से प्राप्त नहीं होते।

7.4 सामाजिक तथ्यों के प्रकार

सामाजिक तथ्यों के दुर्खीम ने दो प्रकार बताये हैं—

सामान्य सामाजिक तथ्य व व्याधिकीय

सामाजिक तथ्य। जिनकी व्याख्या निम्न प्रकार से है।

7.4.1 सामान्य सामाजिक तथ्य (Normal Social Facts) —

सामान्य सामाजिक तथ्य वे हैं जो समाज के स्वीकृत प्रतिमानों के अनुरूप होते हैं तथा सामाजिक जीवन के स्वास्थ्य में वृद्धि करते हैं दुर्खीम का कथन है कि सामान्य सामाजिक तथ्यों का तात्पर्य उन सामाजिक घटनाओं से है जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त स्तर के अनुरूप होती हैं। दुर्खीम ने स्वस्थ शरीर तथा अस्वस्थ अथवा रूग्ण शरीर की चर्चा करते हुए बहुत विस्तार के साथ सामाजिक तथ्यों की प्रकृति को स्पष्ट किया। उनके अनुसार जिन सामाजिक तथ्यों को साधारणतया लोग व्याधिकीय तथ्य मान लेते हैं, उनमें से अनेक तथ्य ऐसे होते हैं। जिन्हें सामान्य सामाजिक तथ्य ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए दुर्खीम ने बतलाया है कि अपराध एक सामान्य सामाजिक तथ्य है क्योंकि इसे स्पष्ट करते करते हुए **रेमण्ड ऐरो** ने लिखा है कि अपराध एक सामान्य घटना है क्योंकि अधिकांश समाजों में इसकी दर बहुत-कुछ सामान्य रूप में ही देखने को मिलती है। यदि इस अर्थ में हम अपराध अथवा आत्महत्या जैसी घटना को सामान्य मान सकते हैं तब यह जानने आवश्यक होगा कि 'सामान्य' शब्द से दुर्खीम का तात्पर्य क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने लिखा है, "कोई भी वह घटना जो एक समाज के विकास की किसी विशेष अवस्था में सामान्य रूप से पायी जाती है, उसे हम एक सामान्य घटना कहते हैं।"

स्पष्ट है कि दुर्खीम ने सामान्य सामाजिक तथ्यों की प्रकृति को किसी समाज में एक विशेष काल के परिप्रेक्ष्य में ही स्पष्ट किया है। यदि हमें यह ज्ञात

करना हो कि एक समाज विशेष में कौन-से तथ्य सामान्य तथ्य हैं, तो इसका निर्धारण करने के लिए हमें उस समाज में एक विशेष काल पर अपना ध्यान केंद्रित करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, वर्तमान काल में हमारे समाज के अन्तर्गत भ्रष्टाचार, एक सामान्य सामाजिक तथ्य हो सकता है लेकिन यह सम्भव है कि प्राचीनकाल में भ्रष्टाचार को एक सामान्य तथ्य के रूप में न देखा जाता हो। दुर्खीम ने बहुत स्पष्ट उदाहरण के द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार यदि वृद्धवस्था को स्वयं में एक व्याधि अथवा बीमारी मान लिया जाय तो हम वृद्ध लोगों को 'स्वस्थ वृद्ध' तथा 'अस्वस्थ वृद्ध' जैसी दो श्रेणियों में नहीं बांट सकते। इसका तात्पर्य है कि समाज में यदि कोई तथ्य निश्चित क्रम तथा सामान्य दर से पाया जाता है तो उसे एक सामान्य तथ्य के रूप में स्वीकार कर लेना ही उचित है। इस आधार पर दुर्खीम ने पुनः यह स्पष्ट किया कि जो तथ्य समाज के संगठन तथा एकीकरण के लिए उत्तरदायी होते हैं एवं जो व्यक्ति के व्यवहार का सामान्य अंग हो, उन्हें सामान्य सामाजिक तथ्य कहा जा सकता है। यदि इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो सामान्य सामाजिक तथ्यों की प्रकृति में अनेक विशेषताओं जैसे— सामान्यता, निश्चित दर, संगठनकारी शक्ति, विशिष्टता व उपयोगिता आदि पायी जाती है।

7.4.2 व्याधिकीय सामाजिक तथ्य (Pathological Social Facts)-

वे तथ्य हैं जो समाज के स्वीकृत प्रतिमानों के विपरीत होते हैं अर्थात् समाज में रूग्णता पैदा करते हैं तथा समाज के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं। अपराध, बाल-अपराध, डकैती, वेश्यावृत्ति, आत्महत्या आदि व्याधिकीय सामाजिक तथ्य हैं। जब समाज के व्याधिकीय तथ्य अधिक बढ़ जाते हैं तो समाज का सामान्य जीवन ठप हो जाता है। दुर्खीम कहते हैं कि समाजशास्त्र की विषयवस्तु की परिभाषा करने के लिए इन दोनों ही प्रकार के तथ्यों को सम्मिलित किया जाना चाहिए। दुर्खीम ने तुलनात्मक आधार पर व्याधिकीय सामाजिक तथ्यों की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए बतलाया कि सामान्य सामाजिक तथ्यों में जहां सामान्यतया, सामाजिक स्वास्थ्य, उपयोगिता तथा संगठन के गुण होते हैं। दूसरी ओर व्याधिकीय सामाजिक तथ्य वे हैं जो समाज में किसी पीड़ा से उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, आत्महत्या एक सामान्य सामाजिक तथ्य हो सकती है लेकिन समाज में विसंगति की दशा उत्पन्न होने पर यदि विसंगत आत्महत्याएं होने लगे तो इन्हें व्याधिकीय सामाजिक तथ्य माना जायेगा। दुर्खीम का कथन है कि सामाजिक पीड़ा एक अचेतना की दशा है जो व्याधिकीय होती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि समाज को क्षति पहुंचाने वाली घटनाएं जिन सामाजिक तथ्यों को जन्म देती हैं उन्हीं को दुर्खीम ने व्याधिकीय सामाजिक तथ्य कहा है।

वास्तविकता यह है कि व्याधिकीय सामाजिक तथ्यों के बारे में दुर्खीम के विचार अधिक स्पष्ट नहीं हैं। इसका कारण यह है कि एक ओर दुर्खीम ने अपराध तथा आत्महत्या को सामान्य सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया है जबकि

दूसरी ओर यह स्वीकार करते हैं कि समाज के मान्यता प्राप्त स्तर से भिन्न एवं समाज को क्षति पहुंचाने वाली घटनाएं व्याधिकीय सामाजिक तथ्य हैं। इस रूप में अपराध तथा आत्महत्या को भी व्याधिकीय सामाजिक तथ्य ही कहा जाना चाहिए था। इस समस्या का समाधान करते हुए दुर्खीम ने बतलाया कि सामाजिक तथ्यों के अध्ययन में केवल इतना जान लेना ही महत्वपूर्ण बात यह है कि हमें जिन सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करना हो; एक ओर उनसे कार्य-कारण सम्बन्ध की समझने का प्रयत्न किया जाये तथा दूसरी ओर समाज पर उनके प्रभावों की विवेचना की जाये। अतः आप यहा सामाजिक तथ्यों के प्रकारों- सामान्य सामाजिक तथ्य व व्याधिकीय सामाजिक तथ्य से भली भाँति परिचित हो गये होंगे।

7.5 समाजों के वर्गीकरण के नियम

सरलता के आधार पर दुर्खीम ने चार प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है। -

1) सरल समाज (Simple Societies) -

सरल समाज को परिभाषित करते हुए दुर्खीम लिखते हैं, सरल समाज वह समाज है जो अकेला कार्यालय सम्पूर्ण है, जो किसी के अधीन नहीं है तथा जिसमें परस्पर सहयोग पाया जाता है। सरल समाज के खण्ड नहीं होते अर्थात् सरल समाज में और अधिक सरल समाज सम्मिलित नहीं होते अर्थात् इसमें अतीत में भी किसी तरह के खण्ड या अन्य समाज सम्मिलित नहीं होने चाहिए। दुर्खीम ने सरल समाज के उदाहरण में घुमक्कड़ों के झुण्ड एवं गोत्र को दर्शाया है।

2) बहुखण्डीय सरल समाज (Simple Polysegmented Societies)-

इन्हें मिश्रित समाज भी कहते हैं। इनका निर्माण गोत्र समूहों के मिश्रण से होता है जिनमें एक से अधिक पहले से विद्यमान खण्डों का समावेश होता है। इसलिए इन्हें बहुखण्डीय समाज कहा जाता है। चूंकि इनका निर्माण करने वाले खण्ड सरल समाज होते हैं। अतः ये बहुखण्डीय सरल समाज कहलाते हैं। दुर्खीम ने ऑस्ट्रेलिया की जनजातियों, अमेरिका की इराक्विस जनजाति एवं प्राचीन यूनान की बिरादरी को इन समाजों श्रेणियों में सम्मिलित किया है।

3) साधारण मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Simple Compounded Polysegmental Societies)-

इनका निर्माण बहुखण्डीय सरल समाजों के मिश्रण से होता है। इनकी सामाजिक संरचना जटिल हो जाती है। जनजातियों को इसी श्रेणी के समाज में रख सकते हैं।

4) दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Double compounded Polysegmental societies)–

दुर्खीम इन्हें सबसे जटिल समाज कहता है। जो विकास के क्रम में उच्चतम क्रम में है। इनका निर्माण साधारण मिश्रित बहुखण्डीय समाजों के मिश्रण से होता है। बड़े- बड़े नगर और राजधानियां इसी प्रकार के समाजों की श्रेणी में आते हैं।

बोध प्रश्न-1

i) सामाजिक तथ्य क्या है?

.....

ii) सामाजिक तथ्यों की दो विशेषताएं लिखिए।

.....

iii) सामाजिक तथ्यों के कितने प्रकार हैं नाम लिखिए?

.....

iv) दुर्खीम ने सरलता के आधार पर कितने प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है? उनका नाम लिखिए।

.....

v) सामाजिक तथ्यों के सन्दर्भ में वाह्यता एवं बाध्यता को संक्षिप्त में लिखिए।

.....

सत्य व असत्य बतलाइये–

- vi) सामाजिक तथ्यों का व्यक्ति पर बाह्यतामूलक प्रभाव पड़ता है।
 (सत्य/असत्य)
- vii) दुर्खीम ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान मानने पर विशेष बल दिया
 (असत्य/सत्य)

खाली स्थान भरिए—

viii) सामाजिक तथ्य कोई स्थिर धारणा नहीं अपितु.....धारणा है।

7.6 सारांश

दुर्खीम की पुस्तक "The Rules of Sociological Method" सन्- 1895 में प्रकाशित हुई। इसमें दुर्खीम ने कहा कि समाजशास्त्र एक प्रथक विज्ञान के रूप में तब तक स्थापित नहीं किया जा सकता जब तक कि इसकी एक विशिष्ट अध्ययन वस्तु और उसके अन्वेषण के लिए एक व्यवस्थित अध्ययन पद्धति विकसित न हो। इसमें सामाजिक तथ्यों को समाजशास्त्र की विषयवस्तु के रूप में स्थापित किया गया है। इस पुस्तक के कुल छः अध्यायों के प्रथम अध्याय में दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषय सामग्री एवं अनुसन्धान की समस्या के रूप में सामाजिक तथ्य की परिभाषा दी और उसके लक्षणों की व्याख्या की। दूसरे अध्याय में सामाजिक तथ्यों के वैज्ञानिक और वैषयिक अवलोकन के नियम निर्धारित किये गए हैं। तीसरे अध्याय में सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों का विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सामाजिक तथ्यों के वर्गीकरण के नियमों की व्याख्या की गई है। पाचवें अध्याय में सामाजिक तथ्यों की विस्तृत व्याख्या की गई तथा अंतिम छठा अध्याय में निर्वचन व सामान्यीकरण की प्रणाली व संक्षिप्त निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। जिसमें दुर्खीम सभी मानवीय व्यवहारों को सामाजिक तथ्य मानता है। क्योंकि उनकी उत्पत्ति समाज में होती है। स्वयं दुर्खीम कहते हैं कि "सामाजिक तथ्य व्यवहार, विचार, अनुभव, क्रिया का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैषयिक रूप से सम्भव है और जो एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को बाध्य करता है।" दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की दो महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख किया है— बाह्यता एवं बाध्यता। बाह्यता अर्थात् सामाजिक तथ्यों का अस्तित्व व्यक्तियों के बाहर एवं स्वतन्त्र होता है। उस पर व्यक्ति विशेष या वैज्ञानिक क्रिया का प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः सामाजिक तथ्यों की उत्पत्ति भी समूह के सभी व्यक्तियों की सामूहिक चेतना के कारण होती है फिर भी वे व्यक्ति विशेष की क्रिया एवं विचारों से प्रथक होते हैं। सामाजिक तथ्य सामूहिक चेतना की उपज है। अतः यह व्यक्ति के लिए बाध्यतामूलक होते हैं। समूह या समाज सामाजिक तथ्यों— व्यवहार व क्रिया आदि को मानने के लिए व्यक्ति को बाध्य करता है। दबाव डालता है। स्पष्टतः उपर्युक्त वर्णन से आप यहा पर समाज में सामाजिक तथ्यों को समझ गये होंगे।

7.7 परिभाषिक शब्दावली

सामाजिक तथ्य— सामाजिक तथ्य व्यवहार (विचार अनुभव या क्रिया) का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैषयिक रूप से संभव है और जो एक विशेष ढंग से

व्यवहार करने को बाध्य करता है। सामाजिक तथ्य वे तथ्य हैं जो सामूहिक चेतना से सम्बन्धित हों और जो व्यक्तिगत चेतना से स्वतन्त्र हों।

बाह्यता— सामाजिक घटनाओं या तथ्यों का निर्माण तो समाज के सदस्यों द्वारा ही होता है लेकिन सामाजिक तथ्य एक बार विकसित हो जाने के पश्चात फिर किसी एक व्यक्ति विशेष का नहीं रहता और वह इस अर्थ में कि इसे एक स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप में अनुभव किया जाता है अर्थात् वैज्ञानिक व्यक्ति का उससे कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं होता और न ही इस पर किसी भी व्यक्ति विशेष की क्रिया का प्रभाव पड़ता है।

बाध्यता— सामाजिक तथ्यों का व्यक्ति पर बाध्यतामूलक प्रभाव पड़ता है। वास्तव में व्यक्ति जो भी कार्य करता है, उस पर सामाजिक तथ्य का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है और वह इस रूप में सामाजिक तथ्यों का निर्माण समाज के किसी एक सदस्य के द्वारा नहीं होता है अपितु इसमें अनेक सदस्यों का योगदान होता है। अर्थात् सामूहिक चेतना की उपज होते हैं। इसलिए ये बाध्यकारी होते हैं।

7.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- i) सामाजिक तथ्य व्यवहार (विचार अनुभव या क्रिया) का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैषयिक रूप से संभव है और जो एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को बाध्य करता है। सामाजिक तथ्य वे तथ्य हैं जो सामूहिक चेतना से सम्बन्धित हों और जो व्यक्तिगत चेतना से स्वतन्त्र हों।
- ii) बाह्यता एवं बाध्यता
- iii) सामान्य सामाजिक तथ्य व व्याधिकीय सामाजिक तथ्य।
- iv) सरलता के आधार पर दुर्खीम ने चार प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है – सरल समाज, बहुखण्डीय सरल समाज, साधारण मिश्रित बहुखण्डीय समाज व दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज।
- v) सामाजिक तथ्यों कि बाह्यता से दुर्खीम का तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमें इनका अस्तित्व व्यक्ति से स्वतन्त्र होता है। अर्थात् सामाजिक तथ्यों का संबंध न तो किसी व्यक्ति विशेष से होता है और न ही व्यक्तिगत चेतना का परिणाम होता है। इनका अस्तित्व अल्पकालिक न होकर दीर्घकालिक होता है। एवं बाध्यता में इनका पालन व्यक्ति के लिए बाध्यतामूलक होता है। क्योंकि इनकी उत्पत्ति व्यक्तिगत चेतना से नहीं होती वरन् ये सामूहिक चेतना के परिणाम होते हैं। सामाजिक तथ्यों की बाध्यता से दुर्खीम का तात्पर्य इनके उस गुण से है जो व्यक्ति को एक विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं।

सत्य व असत्य

vi) सत्य

vii) सत्य

खाली स्थान भरिए—

viii) गतिशील

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Giddens, Anthony, (1978) *Durkheim*, Harvester press, Hassocks Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 & 2, Penguin books, London

Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*, Allen and unvin, London

Durkheim, Emile, (1964) *The Rules of sociological method*, Free press, Newyork

Sorokin, (1978), *Contemporary Sociological theories*, kalyani publishers, New Delhi

7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Jones, Robert Alun, (1986) *Emile Durkheim- An Introduction to four Major Works*, sage publications, Inc.: Beverly Hills

Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat Publication, Jaipur

Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, polity press, Cambridge

Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge & Kegan Paul, London

गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा सिंह जे0 पी0, (2008) *समाजशास्त्र—अवधारणाएं एवं सिद्धान्त*, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली
 हारालाम्बोस एम0, 1998, *सोशियोलोजी : थीम्स एण्ड प्रर्सपेक्टिव*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. दुर्खीम के सामाजिक तथ्यों का अर्थ स्पष्ट कीजिए व इससे संबंधित विचारों की विवेचना कीजिए।
2. सामाजिक तथ्य क्या है? एवं सामाजिक तथ्यों की विशेषताएं एवं प्रकार का सविस्तार वर्णन कीजिए।
3. दुर्खीम के सामाजिक तथ्यों के सन्दर्भ में समाजो के वर्गीकरण का वर्णन कीजिए।

इकाई 8 – आत्महत्या का सिद्धांत (Theory of suicide)

इकाई की रूपरेखा**8.0 उद्देश्य****8.1 प्रस्तावना****8.2 आत्महत्या का सिद्धांत: अर्थ व परिभाषा एवं कारक****8.2.1 आत्महत्या के कारक****8.3 आत्महत्या के प्रकार****8.3.1 अहंवादी आत्महत्या****8.3.2 परार्थवादी आत्महत्या****8.3.3 असामान्य (आदर्शहीन) आत्महत्या****8.4 सारांश****8.5 पारिभाषिक भाब्दावली****8.6 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर****8.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची****8.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री****8.9 निबंधात्मक प्रश्न**

8.0 उद्देश्य

इस प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के उपरान्त आपके लिए संभव होगा:-

- समाज में आत्महत्या की परिभाषा व अर्थ को जानना।
- समाज में आत्महत्या के लिए उत्तरदायी कारकों की विवेचना करना।
- समाज में घटित आत्महत्या के प्रकार व उत्पन्न उत्तरदायी परिस्थितियों की व्याख्या करना।

8.1 प्रस्तावना

इस प्रस्तुत इकाई में इमार्शल दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित आत्महत्या का सिद्धांत का उल्लेख विस्तार पूर्वक से प्रस्तुत खण्डों में किया गया है। आत्महत्या के सिद्धांत में सर्वप्रथम यह दर्शाया गया है कि आत्महत्या का अर्थ व परिभाषा कारक व उनके प्रकार समाज में किस प्रकार से हैं। किस प्रकार समाज में आत्महत्या हो रही है व कोन सा पक्ष इनके लिए उत्तरदायी है आदि। इस सिद्धांत में दुर्खीम उल्लेख करते हैं कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है, यह व्यक्ति का निजी कार्य नहीं है, अपितु दुर्खीम ने स्वयं समाज को ही आत्महत्या के लिए उत्तरदायी ठहराया है। उनकी मान्यता थी कि आत्महत्या की व्याख्या समाजशास्त्रीय आधार पर ही की जानी चाहिए। अर्थात् समाज या समूह ऐसी

परिस्थितियां उत्पन्न करता है कि उनसे विवश होकर ही व्यक्ति आत्महत्या का सहारा लेता है। जिसका उल्लेख दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित/ पुस्तक Le Suicide (The Suicide) सन् 1897 में विस्तार पूर्वक से किया गया है।

इस सिद्धांत को पढ़ने के उपरान्त आप समाज में आत्महत्या से संबन्धित तथ्यों का विश्लेषण करने में मदद मिलेगी।

8.2 आत्महत्या का सिद्धांत: अर्थ व परिभाषा एवं कारक

फ्रांस के सामाजिक विचारकों में दुर्खीम को ऑगस्ट कॉम्ट का उत्तराधिकारी माना जाता है। क्योंकि दुर्खीम ने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक धरातल प्रदान किया। इनका जन्म 15 अप्रैल 1858 सन् में पूर्वी फ्रांस के लॉरेन प्रान्त में स्थित एपिनाल (Epinal) नामक नगर में एक मजूरी परिवार में हुआ था। इनके पारिवारिक व शैक्षणिक जीवन के बाद इन्होंने अनेक सिद्धांत समाजशास्त्र में प्रतिपादित किये। उनमें से आत्महत्या का सिद्धांत एक प्रमुख सिद्धांत है जिसका विवरण निम्न है—

दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित पुस्तक Le suicide (The suicide) सन् 1897 में प्रकाशित हुई जिसमें आत्महत्या के सिद्धांत के बारे में उल्लेख है। इस पुस्तक में सर्वप्रथम आत्महत्या के अर्थ को समझाया गया है। सामान्य रूप से पूर्व में यह समझा जाता है कि व्यक्ति के स्वयं के प्रयत्नों द्वारा घटित मृत्यु ही आत्महत्या है, लेकिन दुर्खीम इस सामान्य अर्थ को अस्वीकार करते हैं और कहते हैं कि हम आत्महत्या को एक ऐसी मृत्यु की संज्ञा दे सकते हैं, जोकि किसी विशेष उद्देश्य के लिए घटित हुई हो। लेकिन ऐसा कहने में हमारे समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह है कि आत्महत्या करने के पश्चात आत्महत्या करने वाले के उद्देश्य के विषय में जानकारी किस प्रकार प्राप्त की जाए। इन्हीं तथ्यों को ध्यानान्तर्गत रखकर दुर्खीम ने आत्महत्या को समाजशास्त्रीय प्रारूप में इस प्रकार परिभाषित किया कि “आत्महत्या शब्द का प्रयोग उन सभी मृत्युओं के लिए किया जाता है जोकि स्वयं मृत व्यक्ति के किसी सकारात्मक या नकारात्मक ऐसे कार्य के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम होते हैं जिनके बारे में वह व्यक्ति जानता है कि वह कार्य इसी परिणाम अर्थात् मृत्यु को उत्पन्न करेगा। अतः उपर्युक्त उल्लेखित पुस्तक में दुर्खीम ने बहुत से आंकड़ों के आधार पर यह स्पष्ट किया कि आत्महत्या किसी व्यक्तिगत कारण का परिणाम नहीं होती अपितु यह एक सामाजिक तथ्य है। जोकि सामाजिक क्रियाओं का परिणाम है। अतः आप यहा आत्महत्या के अर्थ से भली भौति परिचित हो गये होंगे।

8.2.1 आत्महत्या के कारक—

आप उपर्युक्त लेखन सामग्री पढ़कर परिचित हो गये होंगे कि दुर्खीम आत्महत्या को एक वैयक्तिक घटना नहीं, बल्कि सामाजिक घटना मानते हैं। आइए अब हम इन पर विवेचना करें।

अनेक विद्वानों का मत है कि आत्महत्या की घटना पागलपन तथा एकोन्माद से घनिष्ठतः संबंधित है। कुछ विद्वान आत्महत्या के सम्बन्ध में प्रजाति और वंशानुक्रमण को प्रमुख मानते हैं। उसी प्रकार कुछ भौगोलिकवादियों का मत है कि आत्महत्याएं भौगोलिक परिस्थितियों जैसे तापमान, मौसम, व जलवायु आदि से प्रभावित होती हैं, जबकि कुछ विद्वान निर्धनता, निराशा, व मद्यपान आदि के आधार पर आत्महत्या जैसी घटना की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। लेकिन दुर्खीम इन सभी विद्वानों के विचारों से सहमत नहीं है। वे कहते हैं कि आत्महत्या की सामान्य वस्तुनिष्ठ व्याख्या इन आधारों पर संभव नहीं है। क्योंकि ये आधार वैयक्तिक है। आत्महत्या की प्रकृति सामाजिक है। इसलिए इसकी व्याख्या समाज संदर्भ में होनी चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि आत्महत्या का सम्बन्ध कुछ विशेष सामाजिक दशाओं एवं उनसे किए गये वैयक्तिक अनुकूलन की मात्रा से होता है। स्वयं दुर्खीम के अनुसार, “आत्महत्या का सामाजिक पर्यावरण की विभिन्न दशाओं के बीच का सम्बन्ध उतना ही अधिक प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है जितना कि जैविकीय और भौतिक दशाएं आत्महत्या के साथ एक अनिश्चित और अस्पष्ट सम्बन्ध को स्पष्ट करती है।” अतः इस कथन के आधार पर स्पष्ट है कि एक सन्तुलित व्यक्तित्व के लिए यह आवश्यक होता है कि सामाजिक दशाओं तथा सामूहिक चेतना का व्यक्ति के जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव स्वस्थ हो। लेकिन जब इसके सापेक्ष व्यक्ति के जीवन पर समूह के नियन्त्रण में आवश्यकता से अधिक वृद्धि अथवा कमी होने लगती है तब सामाजिक दशाएं व्यक्ति को अस्वस्थ रूप से प्रभावित करना आरम्भ कर देती है। यही दशाएं आत्महत्या का कारण बनती हैं।

दुर्खीम कहते हैं कि सामाजिक कारणों की सहायता से हमें भौतिक कारणों का प्रभाव बताया जाता था। यदि स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा कम आत्महत्याएं करती हैं, तो इसके पीछे कारण यह है कि वे पुरुषों की अपेक्षा सामूहिक-जीवन में बहुत कम भाग लेती हैं, और वे इसके सामूहिक जीवन के अच्छे या बुरे प्रभाव को जीवन में इनके सापेक्ष कम अनुभव करती हैं। यही प्रभाव दुर्खीम ने अपने अध्ययन के आंकड़ों के आधार पर अधिक आयु के व्यक्तियों तथा बच्चों के सम्बन्ध आदि में भी लागू किया।

दुर्खीम अपने अध्ययन में स्पष्ट करते हैं कि समाज में घटित होने वाली आत्महत्या की दर की व्याख्या केवल समाजशास्त्रीय आधारों पर ही की जा सकती है। एक निश्चित समय पर समाज का नैतिक संगठन ऐच्छिक मृत्युओं के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर विशेष शक्ति की मात्रा लिए हुये एक सामूहिक व सामाजिक शक्ति का दबाव अनुभव करता है। जिसके परिणामस्वरूप वह आत्महत्या की ओर बाध्य होता है। आत्महत्या करने वाले के कार्य जोकि पूर्व में केवल उसके वैयक्तिक स्वभाव को व्यक्त करते प्रतीत होते हैं, वास्तविक रूप में एक सामाजिक अवस्था के पूरक और विस्तार होते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति आत्महत्या के परिणाम में परिणित होती

हैं। इसलिए वास्तविक तथ्यों के अनुसार प्रत्येक मानव समाज में कम या अधिक रूप में आत्महत्या की प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रत्येक सामाजिक समूह में आत्महत्या के लिए अपने अनुसार एक सामूहिक प्रवृत्ति पाई जाती है। जोकि वैयक्तिक प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती है, न कि वैयक्तिक प्रवृत्तियों का परिणाम होती है। सम्पूर्ण सामाजिक समूह की ये प्रवृत्तियां व्यक्तियों को प्रभावित करके आत्महत्या का प्रमुख कारण बनती है। वे तो केवल ऐसे प्रभाव मात्र है जिनको आत्महत्या करने वाले व्यक्ति की नैतिक प्रवृत्ति से लिया गया है। जोकि समाज की नैतिक स्थिति की एक प्रति-ध्वनि है। व्यक्ति जीवन में अपनी उदासीनता को समझाने के लिए अपने चारों ओर की तात्कालिक परिस्थितियों को दोषी ठहराता है, कि उसका जीवन दुखी है क्योंकि वह दुखी है। लेकिन वास्तविकता में वह बाहरी परिस्थितियों के कारण दुखी है। अपितु ये सभी बाहरी परिस्थितियां उसके जीवन की इधर-उधर की घटना नहीं, बल्कि वही समूह की है जिसका कि वह सदस्य है। यही कारण है कि ऐसी कोई सामाजिक परिस्थिति नहीं होती जोकि आत्महत्या के लिए अवसर का काम न कर सके। यह सब तो इस बात पर निर्भर करता है कि आत्महत्या की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाले कारण कितनी तीव्रता से व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। अतः उपर्युक्त विवरण से आप जान गये होंगे कि आत्महत्या एक सामाजिक घटना तथ्य है जिसको सामाजिक कारक के संदर्भ में ही स्पष्टता से समझा जा सकता है।

उपर्युक्त सम्बन्ध में एक प्रश्न स्वाभाविक उठता है कि यदि सामाजिक दशाएं ही आत्महत्या का कारण है तो समान सामाजिक दशायें होने पर उसमें रहने वाले व्यक्तियों में आत्महत्या की घटनाएं एक-दूसरे से भिन्न क्यों होती है? इस सन्दर्भ में दुर्खीम अपने अध्ययन में स्पष्ट करते हैं कि आत्महत्या को प्रेरणा देने वाली दशाएं प्रत्येक समाज में क्रियाशील रहती है लेकिन विभिन्न व्यक्तियों पर इनका प्रभाव समान नहीं होता है। क्योंकि इनका प्रभाव किसी व्यक्ति पर तब पड़ता है जब तक व्यक्ति का व्यक्तित्व उसे अपना न ले। यही कारण है कि निर्धनता तथा असुखी वैवाहिक जीवन की यातना को कुछ लोग सह लेते हैं। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो इस यातना को सह नहीं पाते हैं और उसके साथ अनुकूलन करने में अपने को असमर्थ पाकर आत्महत्या की ओर प्रेरित हो जाते हैं। अर्थात् एक विशेष दशा को कुछ लोग बहुत सामान्य समझकर उसे यूं ही छोड़ देते हैं। अथवा उसके प्रति उदासीन बने रहते हैं। वहीं दूसरी ओर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जोकि उसी दशा के उत्पन्न होने या तो पूरी तरह से टूट जाते हैं और उन्हें अपने जीवन की भी चिन्ता नहीं रहती है। तथा परिणाम आत्महत्या होती है।

अर्थात् स्पष्ट है कि आत्महत्या को प्रेरणा देने वाली विभिन्न सामाजिक दशाओं के प्रति जो व्यक्ति जितना अधिक लगाव महसूस करते हैं, उनमें आत्महत्या की ओर बढ़ जाने की सम्भावना उतनी अधिक हो जाती है। इसी संदर्भ में दुर्खीम अपने अध्ययन में लिखते हैं कि "यह निश्चित प्रतीत होता है कि

कोई भी सामूहिक भावना व्यक्तियों को तब तक प्रभावित नहीं कर सकती जब तक वे उसके प्रति उदासीन बने रहें।" अतः यहां पर दुर्खीम के इस कथन से आप जान गये होंगे कि दुर्खीम का आत्महत्या के प्रति स्वरूप क्या है। आइए अब हम यहां दुर्खीम द्वारा अध्ययन में प्रतिपादित आत्महत्या से संबंधित आंकड़ों के विश्लेषण के आधार पर कुछ परिणामों पर नजर डालें—

- आत्महत्या की दर प्रत्येक वर्ष लगभग एक सी रहती है।
- सर्दियों की तुलना में गर्मियों में आत्महत्याएं अधिक होती हैं।
- कम आयु के लोगों की अपेक्षा अधिक आयु के लोगों में आत्महत्या की दर अधिक पायी जाती है।
- सामान्य जनता की तुलना में सैनिक लोग अधिक आत्महत्याएं करते हैं।
- अविवाहित और सुखी पारिवारिक जीवन से वंचित लोगों में उन व्यक्तियों की तुलना में आत्महत्या की दर अधिक होती है। जो विवाहित अथवा सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत कर रहे होते हैं।
- कैथोलिक धर्म को मानने वालों की तुलना में प्रोटेस्टेण्ट धर्म को मानने वाले लोग अधिक आत्महत्याएं करते हैं। क्योंकि प्रोटेस्टेण्ट धर्म व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर अधिक बल देता है। जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्तियों के व्यवहारों पर इतना नियन्त्रण स्थापित नहीं हो पाता कि वे पूर्णतया एक नैतिक समुदाय में संयुक्त हो सकें।
- गावों की तुलना में शहरों में अधिक आत्महत्याएं होती हैं।

अतः उपर्युक्त परिणामों से आप जान गए होंगे कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है, जिसकी व्याख्या समाजशास्त्रीय आधार पर की जानी चाहिए।

बोध प्रश्न—1

i) दुर्खीम ने आत्महत्या के लिए किसे उत्तरदायी ठहराया?

.....

ii) दुर्खीम ने आत्महत्या को क्या माना?

.....

iii) दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित आत्महत्या को चार पंक्तियों में परिभाषित कीजिए।

.....

iv) दुर्खीम द्वारा आत्महत्या के बारे में किस पुस्तक में उल्लेख किया गया है? नाम लिखिए।

.....

.....

.....

.....

8.3 आत्महत्या के प्रकार

दुर्खीम ने अपने अध्ययन आंकड़ों के निष्कर्षों के आधार पर तीन प्रकार की आत्महत्या का उल्लेख किया है—

1. अहंवादी आत्महत्या (Egoistic suicide)
2. परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic suicide)
3. असामान्य (आदर्शहीन) आत्महत्या (Anomie suicide)

जिनका विवरण निम्न प्रकार से आगे है—

8.3.1 अहंवादी आत्महत्या—

दुर्खीम ने अहंवादी आत्महत्या में बताया कि इस प्रकार की आत्महत्या में व्यक्ति समाज से अपने को प्रथक अनुभव करता है। व्यक्ति अपने स्वार्थ में इतना डूब जाता है कि उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि सभी उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। वह अपने को कटा हुआ महसूस करने लगता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके अहं को ठेस लगती है और वह अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता है। दुर्खीम ने अहंवादी आत्महत्या सम्बन्धी उपर्युक्त विचार को और भी स्पष्ट करने के लिए इस बात की विवेचना की है कि धर्म, परिवार, राजनीति व समाज आदि किस प्रकार आत्महत्या की प्रवृत्ति को प्रभावित करते हैं। आइए अब हम यहां पर इनमें से एक के आधार पर अर्थात् परिवार के आधार पर समझने का प्रयास करते हैं।

दुर्खीम ने परिवार और अहंवादी आत्महत्या में सह सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। आपने परिवार को गृहस्थ-समाज की संज्ञा दी है। आपके अनुसार, व्यक्ति पर इस समाज का स्वस्थ व अस्वस्थ दोनों की प्रकार का प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक समूह में जितनी अधिक एकता व संगठन होता है, उस परिवार के सदस्य आत्महत्या की ओर उतने ही कम अग्रसर होते हैं। और अधिक स्पष्ट रूप में अविवाहित की अपेक्षा विवाहित व्यक्तियों में कम आत्महत्याएं पाई जाती हैं, क्योंकि माता-पिता व बच्चों के सम्मिलित समूह का उन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। अर्थात् परिवार में जितना अधिक संगठन व एकता होगी उतना ही परिवार के प्रति व्यक्ति का लगाव बढ़ेगा। जिसके फलस्वरूप वह अपने अहं

को ठेस लगने से बचायेगा व परिवार में भावात्मक लगाव होगा व अपनी बातों को परिवार में सम्मिलित करेगा। जिससे आत्महत्या से वह बचेगा। लेकिन इसके विपरीत जब व्यक्ति पारिवारिक समूह से वंचित होता है, तब वह अपने को संसार में अकेला महसूस करने लगता है, और उसके अहं को ठेस लगती है, उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि अब उसकी जरूरत समाज को नहीं है। जिसके परिणाम में वह आत्महत्या का सहारा लेता है। स्वयं दुर्खीम लिखते हैं कि “परिवार आत्महत्या के विरुद्ध एक शक्तिशाली बचाव है। इसी कारण इसका संगठन जितना दृढ़ होगा, उतना ही आत्महत्या से हमारा बचाव अधिक संभव होगा।” इसी प्रकार धर्म आदि का प्रभाव भी आत्महत्या पर पड़ता है। अतः स्पष्टतः आप यहां पर आत्महत्या के अहंवादी प्रकार को व उसके समाज में घटित होने की स्थिति को भली प्रकार से समझ गए होंगे।

8.3.2 परार्थवादी आत्महत्या –

परार्थवादी आत्महत्या, अहंवादी आत्महत्या का विपरीत रूप है। दुर्खीम के अनुसार, परार्थवादी आत्महत्या में व्यक्ति समाज में अपने को बहुत घुला-मिला महसूस करता है, व्यक्तिगत हित सामूहिक हित में विलीन हो जाते हैं। व्यक्ति और समाज के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है और सामूहिक हित से प्रेरित होकर वह अपने जीवन का बलिदान कर देता है। और अधिक स्पष्ट रूप में दुर्खीम कहते हैं कि परार्थवादी आत्महत्या तब घटित होती है जबकि समाज में अत्यधिक एकता व संगठन देखने को मिलता है। और ऐसी स्थिति में समाज या समूह में आत्महत्या को एक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है, जैसे-सैनिकों द्वारा की जाने वाली आत्महत्या व जौहर आदि आत्महत्या इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती है। इसी प्रकार भारत की राजपूत-रमणियों में राजपूत समाज के गौरव को बनाए रखने के लिए आग में कूद कर सामूहिक आत्महत्या करना भी परार्थवादी आत्महत्या है। इसी प्रकार समुद्री जहाज का कैप्टन भी जहाज अगर डूबता है तो बचाव नाव आदि सामान उस जहाज में सवार लोगों को पहले देता है, चाहे वह स्वयं डूब जाए। अतः आप जान गए होंगे कि परार्थवादी आत्महत्या में सामूहिक हित बचाव के लिए स्वयं बलिदान अति महत्वपूर्ण है।

दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्या की प्रकृति को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इसके भी तीन प्रकारों का उल्लेख किया है-अनिवार्य परार्थवादी आत्महत्या, ऐच्छिक परार्थवादी आत्महत्या व उग्र परार्थवादी आत्महत्या। आइए यहां हम इनका संक्षेप में वर्णन करके समझें।

अनिवार्य परार्थवादी आत्महत्या में दुर्खीम कहता है कि इस प्रकार की आत्महत्या तब घटित होती है जबकि व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो जाता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज में विलीन हो जाता है, और व्यक्ति का अपना कोई प्रथक व्यक्तित्व नहीं रह जाता है और उसे समाज या समूह की इच्छानुसार ही कार्य करना पड़ता है। समाज या समूह उसे

आत्महत्या करने को भी कह सकता है। जोकि उसे अनिवार्य रूप से करनी पड़ती है। इस प्रकार की आत्महत्याएं अत्यधिक संगठित समाजों में देखने को मिलती हैं। क्योंकि वहां व्यक्ति और समाज का घनिष्ठ संबंध देखने को मिलता है। उदाहरण के रूप में भारत में पाई जाने वाली पूर्व में सती प्रथा (पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा आत्महत्या) आदि इसी श्रेणी में आती है। दूसरी प्रकार की आत्महत्या ऐच्छिक परार्थवादी है। इसमें व्यक्ति आत्महत्या करने के लिए समाज द्वारा विवश नहीं किया जाता है अपितु आत्महत्या करना या न करना व्यक्ति की इच्छा पर भी काफी हद तक निर्भर करता है। और अधिक स्पष्ट रूप में ऐच्छिक परार्थवादी आत्महत्या में समाज औपचारिक रूप में व्यक्ति से आत्महत्या की मांग नहीं करता और न ही उसे ऐसा करने के लिए विवश या मजबूर करता है। लेकिन फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में आत्महत्या करना जनमत की दृष्टि से या नैतिक दृष्टि से उचित मान लिया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ऐच्छिक परार्थवादी आत्महत्या के साथ एक सामाजिक प्रतिष्ठता जुड़ी होती है। जिसके कारण व्यक्ति आत्महत्या करने के लिए प्रोत्साहित होता रहता है। जैसे—यदि किसी व्यक्ति ने कोई ऐसा निन्दनीय कार्य कर दिया है, जिससे समूह या उसके परिवार का सर नीचा होता है तो वह व्यक्ति ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसका परिवार या समूह उससे आत्महत्या की मांग कर रहा है। ऐसी अवस्था में वह यह सोचता है कि अगर वह आत्महत्या करता है तो उसके परिवार को उसके द्वारा किए गए कार्य से खोई हुई सामाजिक प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त हो जाएगी। और वह इस प्रकार की आत्महत्या का सहारा लेता है। इस प्रकार यहां आप जान गये होंगे कि ऐच्छिक आत्महत्या में व्यक्ति आत्महत्या करने के लिए समाज द्वारा विवश नहीं किया जाता, अपितु व्यक्ति अपने नैतिक कर्तव्य के रूप में ही आत्महत्या करता है।

तीसरे प्रकार अर्थात् उग्र परार्थवादी आत्महत्या में दुर्खीम कहते हैं कि इस प्रकार की आत्महत्या न तो सामाजिक दबाव के कारण की जाती है न ही खोई हुई नैतिक या सामाजिक प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने के लिए की जाती है। इस प्रकार की आत्महत्या में व्यक्ति बलिदान का सम्पूर्ण सुख या आनन्द प्राप्त करने के लिए अपने को मार डालता है क्योंकि कोई विशेष कारण न होते हुए भी संसार से छुटकारा प्रशंसनीय माना जाता है। अर्थात् इस प्रकार की आत्महत्या में व्यक्ति के जीवन का सार उद्देश्य यही होता है कि वह अपने आप को समाप्त कर दे। जैसे— हिन्दू जीवन में मोक्ष की धारणा ऐसी आत्महत्याओं को प्रेरित करती है। हिन्दू दर्शन के अनुसार एक हिन्दू को गृहस्थाश्रम के समस्त कर्तव्यों का पालन करते हुए पुत्र को जन्म देने के बाद एक निश्चित आयु में पहुंच जाने पर आने को समस्त सांसारिक बन्धनों व सुख—सुविधाओं से अलग कर लेना चाहिए और मोक्ष प्राप्त करने के लिए ईश्वर की जप—तप साधना में लगकर शरीर को धीरे—धीरे गलाना चाहिए। अतः आप यहां परिचित हो गये होंगे कि हिन्दू धर्म

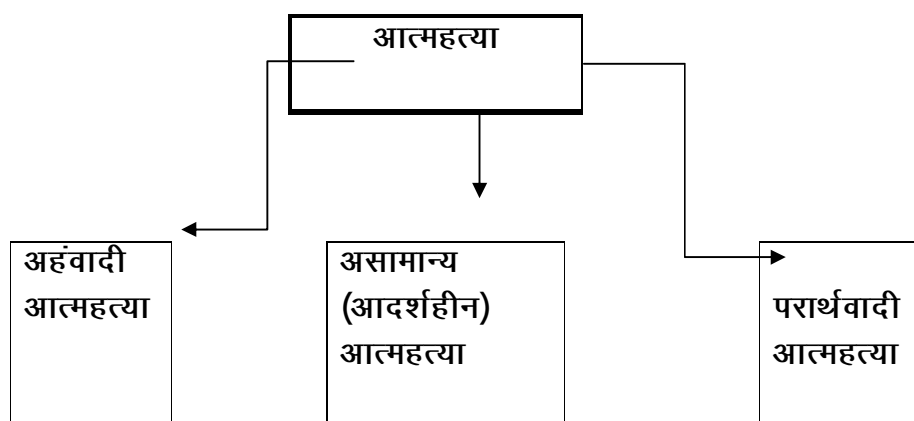
में व्यक्ति अनेक धर्मानुसार कर्तव्यों का पालन करते हुए स्वेच्छा से अपने शरीर को समाप्त कर देते हैं।

8.3.3 असामान्य (आदर्शहीन) आत्महत्या –

इस प्रकार की आत्महत्या में दुर्खीम कहते हैं कि असामान्य या आदर्शहीन आत्महत्या तब की जाती है जब व्यक्ति के जीवन में आकस्मिक उतार-चढ़ाव आते हैं, अत्यधिक निराशा व अचानक प्राप्त होने वाली खुशी की स्थिति में भी व्यक्ति आत्महत्या कर बैठता है। आत्महत्या का यह प्रकार समाज की उस दशा से सम्बन्धित है जिसे दुर्खीम ने 'विसंगति' अथवा अप्रतिमानता कहा है। विसंगति को परिभाषित करते हुए दुर्खीम लिखते हैं कि "विसंगति आदर्श नियमों की समाप्ति की दशा है, एक सामान्य शून्यता है, नियमों का निलम्बन है तथा यह एक ऐसी स्थिति है जिसे हम अक्सर नियमविहीनता कहते हैं।" इसका तात्पर्य है कि जब किन्हीं आकस्मिक दशाओं के फलस्वरूप समाज का संगठन या उसका नैतिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। और व्यक्ति इन बदली हुई दशाओं से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं, तब यह दशा विसंगति की दशा होती है। अतः असामान्य आत्महत्या के उदाहरण के रूप में एकाएक दिवालिया हो जाने पर अथवा भारी लाटरी आ जाने पर अचानक अत्यधिक गम या खुशी होने पर व्यक्ति द्वारा आत्महत्या कर लेना अस्वाभाविक (आदर्शहीन) आत्महत्या है

दुर्खीम इस प्रकार की आत्महत्या को अस्वाभाविक इसलिए कहते हैं कि यह आत्महत्या न तो अहंवादी और न ही परार्थवादी आत्महत्या की प्रकृतिनुरूप होती है। इस प्रकार की आत्महत्या तो तब घटित होती है जब व्यक्ति के सामाजिक या सामूहिक जीवन में होने वाले आकस्मिक व अस्वाभाविक परिवर्तन उसके कष्टों में अत्यधिक वृद्धि करते हैं और इसके फलस्वरूप कष्ट असहनीय हो जाते हैं, और उनसे छुटकारा पाने के लिए वह आत्महत्या का सहारा लेता है। इस प्रकार की उत्पत्ति के कारण ही दुर्खीम इसे असामान्य या अस्वाभाविक आत्महत्या की श्रेणी में इसे रखते हैं। अपने इस विचार के संदर्भ में दुर्खीम ने तीन प्रकार की अस्वाभाविक स्थितियों का वर्णन किया है— आर्थिक अस्वाभाविकता, यौन व पारिवारिक अस्वाभाविकता। आर्थिक अस्वाभाविकता, जिसमें दुर्भाग्यपूर्ण व सौभाग्यपूर्ण अर्थात् दोनों ही प्रकार के संकट सम्मिलित होते हैं, ये आत्महत्या की दर को बढ़ाते हैं। दुर्भाग्यपूर्ण आर्थिक विपदा की स्थिति व्यक्तियों को एकाएक उनको पुरानी आर्थिक स्थिति की तुलना में बहुत नीचे लाकर खड़ा कर देती है। जिसमें लोगों को अपनी आवश्यकताओं को नियंत्रित या संतुलित करना आवश्यक हो जाता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति इन परिस्थिति से अपना अनुकूलन शीघ्रता से नहीं कर पाता है। और यह परिस्थिति असहनीय बनकर उसे आत्महत्या की ओर प्रवृत्त कर देती है। यौन अस्वाभाविकता में विवाह व्यक्ति के यौन सम्बन्धों का नियमन करता है। इसलिए वह आत्महत्या के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करने में सहायता करता है। जबकि एक अविवाहित पुरुष/महिला को

यह मानसिक सन्तुष्टि प्राप्त नहीं होती है। वह एकाधिक स्त्रियों/पुरुषों से यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि प्राप्त करना चाह सकता है। और इस चाह में असफल होने पर आत्महत्या की ओर प्रेरित हो सकता है। तथा पारिवारिक अस्वाभाविकता में दुर्खीम के अनुसार पारिवारिक जीवन में पति या पत्नी की मृत्यु के फलस्वरूप या तलाक के कारण यह स्थिति उत्पन्न हो सकती है। परिवार में पति या पत्नी के मृत्यु के फलस्वरूप एक ऐसी समस्या उत्पन्न हो जाती है जिसकी जीवित पक्ष कल्पना नहीं कर पाता। और इन परिस्थिति में वह अनुकूलन करने में असमर्थ हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप वह इस आत्महत्या की ओर प्रेरित हो जाता है। इस प्रकार आप यहां समाज में आत्महत्या के प्रकारों को समझ गए होंगे। इन प्रकारों को निम्नांकित चित्र द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है जोकि आपको समझने में सहायता मिलेगी।



व्यक्ति समाज से अपने आकस्मिक उतार-चढ़ाव आदि व्यक्तिगत हित सामूहिक के प्रथक अनुभव करता है। हित में विलीन

चित्र नं०-1 : आत्महत्या के प्रकार

बोध प्रश्न-2

i) दुर्खीम ने आत्महत्या के तीन प्रमुख प्रकार कौन से बताए हैं?

.....

.....

.....

ii) परार्थवादी आत्महत्या को संक्षिप्त में बताइए?

.....

.....

.....

iii) परीक्षा में फेल होने पर छात्र द्वारा की जाने वाली आत्महत्या, किस आत्महत्या की श्रेणी में आएगी?

- (अ) अहंवादी आत्महत्या
- (ब) परार्थवादी आत्महत्या
- (स) असामान्य आत्महत्या

iv) आधुनिक युग में किस प्रकार की आत्महत्या अधिक होती है?

.....

8.4 सारांश

दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित आत्महत्या के सिद्धांत में बताया है कि आत्महत्या को पूर्व विचारों में एक व्यक्तिगत क्रिया माना जाता था जिसकी सांख्यिकीय आधार पर व्याख्या की जाती थी और इसके लिए शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता, गरीबी, प्रेम में निराशा आदि को उत्तरदायी ठहराया जाता था। लेकिन दुर्खीम के विचारों में इस बात को स्वीकार नहीं किया और कहा गया कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य और इसकी व्याख्या भी सामाजिक संदर्भ में की जानी चाहिए। यह व्यक्ति का निजी कार्य नहीं है, क्योंकि समाज या समूह ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करता है जिनसे विवश होकर ही व्यक्ति आत्महत्या करता है। जब सामूहिक जीवन में एकता का अभाव हो जाता है तब व्यक्ति असुरक्षित महसूस करता है। जिसके फलस्वरूप वह अपने को अकेला, अतृप्त, दुखी व चारों ओर से घिरा हुआ महसूस करता है तथा उसका सामूहिक जीवन नष्ट हो जाता है और वह सोचता है कि जीने से तो मरना अच्छा है, और जीवन से मुक्ति पाने के लिए वह आत्महत्या का सहारा लेता है। दुर्खीम ने आत्महत्या की समाज में प्रकृति को ध्यान में रखकर तीन प्रकार की आत्महत्या अर्थात् अहंवादी, परार्थवादी व असामान्य (आदर्शहीन) आत्महत्या की व्याख्या समाज में उदाहरण देकर जैसे-सैनिकों द्वारा की जाने वाली आत्महत्या, गुस्से में आकर की जाने वाली आत्महत्या, जौहर, परीक्षा में फेल होने पर विद्यार्थी की आत्महत्या आदि की व्याख्या की। जिसे अनेक उदाहरण द्वारा समझाया उनके विचारानुसार सार यही है कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है जिसमें समाज ऐसी परिस्थितियां आदि घटित करता है कि व्यक्ति आत्महत्या का सहारा ले बैठता है इसलिए आत्महत्या की प्रकृति को समझने के लिए उसकी व्याख्या सामाजिक सन्दर्भ में की जानी चाहिए।

8.5 परिभाषिक शब्दावली

आत्महत्या— आत्महत्या शब्द का प्रयोग उन सभी मृत्युओं के लिए किया जाता है जोकि स्वयं मृत व्यक्ति के किसी सकारात्मक या नकारात्मक ऐसे कार्य के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम होते हैं जिनके बारे में वह व्यक्ति जानता है कि वह कार्य इसी परिणाम अर्थात् मृत्यु को उत्पन्न करेगा।

अहंवादी आत्महत्या— अहंवादी आत्महत्या में व्यक्ति समाज से अपने को प्रथक अनुभव करता है। व्यक्ति अपने स्वार्थ में इतना डूब जाता है कि उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि सभी उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। वह अपने को कटा हुआ महसूस करने लगता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके अहं को ठेस लगती है और वह अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता है।

परार्थवादी आत्महत्या— यह अहंवादी आत्महत्या का विपरीत रूप है। परार्थवादी आत्महत्या में व्यक्ति समाज में अपने को बहुत घुला-मिला महसूस करता है, व्यक्तिगत हित सामूहिक हित में विलीन हो जाते हैं। व्यक्ति और समाज के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है और सामूहिक हित से प्रेरित होकर वह अपने जीवन का बलिदान कर देता है। अतः परार्थवादी आत्महत्या तब घटित होती है जब समाज में अत्यधिक एकता व संगठन देखने को मिलता है और ऐसी स्थिति में समाज या समूह में आत्महत्या को एक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है, जैसे— सैनिकों द्वारा की जाने वाली आत्महत्या व जौहर आदि आत्महत्या इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती है।

असामान्य (आदर्शहीन) आत्महत्या — असामान्य या आदर्शहीन आत्महत्या तब की जाती है जब व्यक्ति के जीवन में आकस्मिक उतार-चढ़ाव आते हैं, अत्यधिक निराशा व अचानक प्राप्त होने वाली खुशी की स्थिति में भी व्यक्ति आत्महत्या कर बैठता है।

8.6 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- i) समाज को
- ii) सामाजिक घटना
- iii) **आत्महत्या**— आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। ऐसी कोई मृत्यु जो आत्म विनाश के लिए जानबूझकर की गई किसी क्रिया का परिणाम है। अथवा उसकी ऐसी निष्क्रियता का परिणाम है जिसके भयंकर परिणामों के विषय में उसे पहले से ज्ञान हो, आत्महत्या की श्रेणी में आती है।
- iv) द सूसाइड (The Suicide)-1897

बोध प्रश्न-2

- i) (अ) अहंवादी आत्महत्या (ब) परार्थवादी आत्महत्या व (स) असामान्य (आदर्शहीन)आत्महत्या
- ii) परार्थवादी आत्महत्या- इमार्शल दुखीम द्वारा बताए गए आत्महत्या के तीन रूपों में से एक को परार्थवादी आत्महत्या कहा जाता है। आत्महत्या के इस रूप में एक व्यक्ति जो अपने समूह अथवा समाज में इतना घुल मिल जाता है कि वह समूह अथवा समाज के कल्याण अथवा रक्षा के लिए अपने आप को न्यौछावर कर देता है। जैसे सैनिक द्वारा देश की रक्षा के लिए अपने आप को युद्ध में झोंक देना। परार्थवादी आत्महत्या समाज के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करने की इच्छा से प्रेरित होती है।
- iii) (स) असामान्य आत्महत्या
- iv) अहंवादी आत्महत्या

8.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Giddens, Anthony, (1978) *Durkheim*, Harvester press, Hassocks Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 & 2, Penguin books, London
- Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*, Allen and unvin, London
- Durkheim, Emile, (1965) *TheSucidie*, Free press, Newyork
- अब्राहिम, एम0 फ्रांसिन्स. (1982) *मॉडर्न सोशियोलोजिकल थ्योरी: एन इन्ट्रोडक्शन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई

8.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Jones, Robert Alun, (1986) *Emile Durkheim- An Introduction to four Major Works*, sage publications, Inc.: Beverly Hills
- Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat Publication, Jaipur
- Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, polity press, Cambridge
- Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge & Kegan Paul, London
- गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- सिंह जे0 पी0, (2008) *समाजशास्त्र-अवधारणाएं एवं सिद्धान्त*, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. समाजशास्त्र के लिए आत्महत्या सन्दर्भ में दुर्खीम के योगदान की विवेचना कीजिए।
2. आत्महत्या से आप क्या समझते हैं? आत्महत्या के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।
3. समाज में आत्महत्या के लिए उत्तरदायी कारणों का सविस्तार उल्लेख कीजिए।

इकाई 9 – श्रम विभाजन (Division of Labour)

इकाई की रूपरेखा**9.0 उद्देश्य****9.1 प्रस्तावना****9.2 समाज में श्रम विभाजन****9.2.1 श्रम विभाजन के प्रकार्य****9.2.2 सामाजिक एकता : यान्त्रिक एकता एवं सावयवी एकता****9.2.3 दमनकारी कानून एवं प्रतिकारी कानून****9.3 श्रम विभाजन के कारण एवं परिणाम****9.4 श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप****9.5 सारांश****9.6 पारिभाषिक भाव्दावली****9.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर****9.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची****9.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री****9.10 निबंधात्मक प्रश्न**

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई अध्ययन के बाद आपके द्वारा संभव होगा—

- दुर्खीम के सिद्धांत—समाज में श्रम विभाजन की व्याख्या करना,
- श्रम विभाजन के समाज में प्रकार्यों को बताना,
- आदिम/प्राचीन समाज में यांत्रिक एकता एवं दमनकारी कानून को वर्णित करना,
- आधुनिक समाजों में सावयवी एकता एवं प्रतिकारी कानून को वर्णित करना,
- जनसंख्या आकार व घनत्व वृद्धि से सामाजिक परिवर्तन द्वारा श्रम विभाजन विशेषीकरण को समझाना,
- श्रम विभाजन के कारण एवं परिणामों को स्पष्टतः समझना, तथा
- आप बता सकेंगे कि समाज में श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप आदि क्या है।

9.1 प्रस्तावना

इस प्रस्तुत इकाई में दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित 'समाज में श्रम विभाजन' सिद्धांत से संबंधित विचारों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है। इसमें बताया गया है कि समाजशास्त्रीय चिन्तक दुर्खीम ने अपनी डॉक्टरेट उपाधि के लिए

सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में समाज में श्रम विभाजन के प्रकार्य, सामाजिक एकता में यांत्रिक एकता व सावयवी एकता के उल्लेख के साथ दमनकारी कानून व प्रतिकारी कानून को बताया गया है। दूसरे खण्ड, जिसमें बताया गया है कि समाज में जनसंख्या के आकार व घनत्व में वृद्धि के कारण व उत्पन्न उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज में परिवर्तन किस प्रकार हुआ व उन परिवर्तनों में श्रम विभाजन व विशेषीकरण कैसे पनपा साथ ही श्रम विभाजन के सामाजिक परिणामों की चर्चा की गई है। तीसरे खण्ड में श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप—आदर्शहीन श्रम विभाजन, बलात श्रम विभाजन तथा व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता वाला श्रम विभाजन के बारे में जानकारी दी गई है।

अंततः इस इकाई की विषय वस्तु पूर्ण रूप से दुर्खीम के सिद्धांत समाज में श्रम विभाजन पर केन्द्रित है कि किस प्रकार समाज में श्रम विभाजन व विशेषीकरण आदि हुआ। इस इकाई को अध्ययन करने के उपरान्त आप आदिम/प्राचीन समाज से आधुनिक समाज में किस प्रकार श्रम विभाजन हुआ आदि को आप बता सकते हैं।

9.2 समाज में श्रम विभाजन

दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में समाज में श्रम विभाजन का सिद्धांत प्रमुख है। इनसे पहले स्मिथ, स्पेंसर, मिल आदि विद्वानों ने श्रम विभाजन की व्याख्या आर्थिक आधार पर की थी लेकिन दुर्खीम ने श्रम विभाजन की व्याख्या सामाजिक आधार पर प्रस्तुत की। दुर्खीम ने अपनी डॉक्टरेट उपाधि के लिए अपने सर्वप्रथम ग्रन्थ का प्रकाशन सन् 1893 में किया। जिसका विषय “समाज में श्रम विभाजन” है। जिसे अंग्रेजी में “The Division of Labour in Society” व फ्रेंच भाषा में “De La Division du Travail Social” नाम से प्रकाशित हुआ है। इस प्रतिपादित पुस्तक में दुर्खीम ने श्रम विभाजन का विस्तार से उल्लेख किया है। इनकी यह पुस्तक “तीन खण्डों” में विभाजित है। सम्पूर्ण पुस्तक में चौदह अध्याय हैं। तीन प्रमुख खण्ड निम्न हैं।

1. श्रम विभाजन के प्रकार्य
2. श्रम विभाजन के कारण एवं दशाएं
3. श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप

दुर्खीम ने श्रम विभाजन के प्रकार्य के अन्तर्गत सामाजिक एकता के लिए श्रम विभाजन को आधार माना है। साथ ही उसके वैज्ञानिक अध्ययनों के लिए कानूनों के स्वरूप, मानवीय सम्बन्धों व एकता के स्वरूप, अपराध व दण्ड आदि अनेक समस्याओं व अवधारणाओं की व्याख्या की है। दूसरे खण्ड में श्रम विभाजन के जनित कारण जनसंख्या के आकार एवं घनत्व में वृद्धि एवं सामूहिक चेतना का हास आदि व उनकी दशाओं आदि का सविस्तार उल्लेख किया है। तथा अन्तिम

खण्ड श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप –आदर्शहीन श्रम विभाजन, बलात्श्रम विभाजन व व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता आदि का उल्लेख किया है। यहां पर हम सबसे पहले श्रम विभाजन के प्रकार्य को जानेंगे।

9.2.1 श्रम विभाजन के प्रकार्य

दुर्खीम के अनुसार समाज एक नैतिक वास्तविकता है। क्योंकि नैतिक व्यवस्था के अभाव में कोई भी सामाजिक व्यवस्था ज्यादा समय तक नहीं चल पाती है। नैतिकता के व्यवहार वे नियम हैं जो मानव के आचरण पर अनिवार्य रूप से लागू होते हैं और उनके साथ सामूहिक अभिमति जुड़ी होती है। श्रम विभाजन की प्रकृति नैतिक है जिसका सम्बन्ध मानव आचरण से है। इसलिए श्रम विभाजन का प्रकार्य समाज में नैतिक कार्यों को उत्पन्न करना है। दुर्खीम कहते हैं कि श्रम विभाजन एक सामाजिक तथ्य है। सर्वप्रथम दुर्खीम ने प्रकार्य का अर्थ बतलाया— प्रकार्य का अर्थ क्रिया से है तथा क्रिया द्वारा पूर्ण होने वाली आवश्यकता से है। दुर्खीम ने प्रकार्य शब्द का प्रयोग क्रिया द्वारा पूर्ण होने वाली आवश्यकता के सन्दर्भ में किया है। स्वयं दुर्खीम के अनुसार “श्रम विभाजन के प्रकार्य से तात्पर्य है कि श्रम विभाजन की प्रक्रिया समाज के जीवन के लिए कौन सी मौलिक आवश्यकता की पूर्ति करती है, अर्थात् प्रकार्य का अर्थ परिणाम या प्रभाव से नहीं अपितु उसकी भूमिका से है।”

कुछ विद्वान श्रम विभाजन को सभ्यता का स्रोत मानते हैं लेकिन दुर्खीम कहते हैं कि श्रम विभाजन का प्रकार्य सभ्यता का विकास करना नहीं है क्योंकि स्रोत का अर्थ प्रकार्य से नहीं है। भौतिक प्रगति आदि श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप होती है। इसलिए ये परिणाम है प्रकार्य नहीं। दुर्खीम ने सभ्यता के विकास में तीन प्रकार के विकास बतलाए हैं— आर्थिक, कलात्मक एवं वैज्ञानिक विकास। लेकिन तीनों का सम्बन्ध नैतिक विकास नहीं है। दुर्खीम (1893:51) स्वयं लिखते हैं कि, “नैतिकता सबसे कम अपरिहार्य, अत्यन्त आवश्यक है, नित्य का भोजन है जिसके बिना समाज जीवित नहीं रह सकता है।”

श्रम विभाजन का प्रकार्य नवीन समूहों का निर्माण व उनकी एकता है। इसकी पुष्टि के लिए दुर्खीम कहते हैं कि श्रम विभाजन का प्रकार्य समाज के अस्तित्व से सम्बन्धित किसी नैतिकता की पूर्ति करना है। जब किसी समाज की जनसंख्या बढ़ती है तो उनके पारस्परिक सम्बन्धों में भी वृद्धि होती है व मानवीय आवश्यकताओं की विभिन्नता बढ़ती है। जिसके फलस्वरूप समाज में नई आवश्यकताएं पनपती हैं। जिनकी पूर्ति के लिए समाज में श्रम विभाजन में वृद्धि होती है, नये व्यावसायिक व सामाजिक समूह जन्म लेते हैं। इन विभिन्न समूहों के बीच एकता उत्पन्न करना समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक बन जाती है। जिसके अभाव में व्यवस्था व सन्तुलन नहीं हो पाता है। अतः यहां स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न समूहों के बीच एकता की आवश्यकता एक नैतिक आवश्यकता है तथा श्रम विभाजन का कार्य इसी नैतिक आवश्यकता की पूर्ति करना है। इस

प्रकार यहां स्पष्ट हो जाता है कि श्रम विभाजन का प्रकार्य नवीन समूहों का निर्माण और उनकी एकता बनाए रखना है। इसे हम यहां एक उदाहरण से समझ सकते हैं कि हम केवल उन लोगों से ही मित्रता नहीं करते हैं जो हमारे से समानता रखते हैं अपितु उनसे भी रखते हैं जो हमारे से भिन्नता रखते हैं क्योंकि जिस बात की कमी का अनुभव करते हैं उसकी पूर्ति हम अपने मित्र में ढूंढते हैं इस प्रकार विवाहित एकता एवं स्त्री-पुरुष की एकता को भी श्रम विभाजन के द्वारा समझाया कि उनकी एकता इसलिए है कि उनमें वैचारिक एवं भावात्मक समानता ही नहीं अपितु उनमें पायी जाने वाली भिन्नता भी है। अर्थात् लैंगिक श्रम विभाजन ही स्त्री-पुरुष की एकता का प्रमुख स्रोत हैं, क्योंकि स्त्रियों का कार्य रागात्मक व पुरुषों का बौद्धिक है और श्रम विभाजन एक-दूसरे को संबंधित करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समानता और भिन्नता दोनों ही आकर्षण का कारण हो सकते हैं। अतः स्पष्ट आप यहा समक्ष गए होंगे कि श्रम विभाजन का प्रमुख कार्य समाज में एकता स्थापित करना है।

दुर्खीम ने कहा कि वैधानिक कानून के आधार पर हम किसी समाज की एकता को समझ सकते हैं। वैधानिक कानून समूह के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रकट करते हैं। इस आधार पर दुर्खीम ने प्रमुख रूप से दो प्रकार के कानूनों का उल्लेख अपने अध्ययन में किया है। जिसका वर्णन आगे किया गया है।

9.2.2 सामाजिक एकता : यांत्रिक एकता एवं सावयवी एकता

दुर्खीम के अनुसार –सामाजिक एकता एक नैतिक घटना है। यह समाज के नैतिक आदर्शों में निहित है। यह कोई मूर्त वस्तु नहीं है वरन् समाज के सदस्यों की मानसिक स्थिति में निवास करती है। यह सामुहिक चेतना की अभिव्यक्ति है। समाज के लोगों में जितना अधिक लगाव एवं निकटता की भावना होगी, समाज में उतनी ही मात्रा में एकता पायी जायेगी। किसी भी समूह का विकास उसकी एकता या सुदृढ़ता में निहित होता है। यह एकता सर्वोच्च एकता है तथा व्यक्ति इसी एकता के अंग हैं। व्यक्तियों एवं समाज में पायी जाने वाली समानता व भिन्नता दोनों ही समाज में एकता को उत्पन्न करते हैं। समान शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाएं लोगों को एकीकरण की तरफ आकर्षित करते हैं। और यह आकर्षण केवल समानता में ही नहीं, अपितु भिन्नता में भी पाया जाता है। जैसे- स्त्री व पुरुष में आकर्षण आदि। इसी प्रकार से कार्यों की भिन्नता जिसे हम श्रमविभाजन कहते हैं, भी समाज में लोगों को निकट आने एवं मिलकर कार्य करने के लिए बाध्य करती है। अतः स्पष्ट है कि श्रम विभाजन के द्वारा सामाजिक एकता को समाज में इसके विभिन्न रूपों में समझा जा सकता है।

इसी आधार पर समाज में दुर्खीम के अनुसार दो प्रकार की एकता पायी जाती है।—

1. यांत्रिक एकता।**2. सावयवी एकता।**

उपर्युक्त लिखित एकता का उल्लेख निम्न प्रकार से है—

यांत्रिक एकता (Mechanical Solidarity)—

यांत्रिक एकता, सरल, आदिम व प्राचीन समाजों की प्रमुख विशेषता है। सरल, आदिम व प्राचीन समाजों में जनसंख्या का आकार कम था उन समाजों में संगठन छोटे आकार का होता था तथा जनसंख्या कम होने के कारण उनकी आवश्यकताएं अधिकांश समान व कम थी अर्थात् गिनी-चुनी थी। उनके सामाजिक व आर्थिक कार्य, जीवन के ढंग, आचार-विचार आदि में भिन्नता ज्यादा नहीं थी। इन समाजों के लोगों पर परम्परा, धर्म व जनमत आदि का प्रभाव व उनका दबाव ज्यादा था और लोग आंख मूंदकर इनका पालन करते थे। जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व समूह के व्यक्तित्व में घुल मिल जाता था। वह समूह के साथ यन्त्रवत्, सोचते हैं, कार्य करते हैं एवं आज्ञाओं का पालन करते हैं। इस प्रकार के समाज में ऐसे आचरण से स्थापित एकता को दुर्खीम ने 'यांत्रिक एकता' कहा है। जिसमें दमनकारी कानून पाया जाता है जिसका वर्णन आगे है। वर्तमान में विश्व में जो भी जनजातियों परम्परागत जीवन व्यतीत कर रही हैं उनमें आज भी यांत्रिक एकता का स्वरूप देखा जा सकता है। आइए अब हम यांत्रिक एकता वाले समाज की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करते हैं—

1. समरूप व्यक्तियों का समाज
2. व्यक्ति का द्वैतीयक स्थान
3. सामूहिक चेतना का प्रभुत्व
4. सजातीयता
5. आर्थिक एवं धार्मिक संगठन
6. दमनकारी सामाजिक नियन्त्रण आदि हैं।

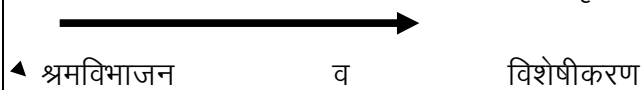
सावयवी एकता (Organic Solidarity)—

दुर्खीम के अनुसार सावयवी एकता आधुनिक समाज, जटिल, विकसित व औद्योगिक समाजों की विशेषता है। यह यांत्रिक एकता के बिल्कुल विपरीत है। आइए अब हम यहां इसे समझते हैं। दुर्खीम कहता है कि जब समाज में जनसंख्या के आकार व घनत्व में वृद्धि होती है तो उस समाज में रहने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता में भी वृद्धि होती जाती है। जिसके परिणामस्वरूप श्रम विभाजन पनपता है। श्रम विभाजन ही समाज में नवीन वर्गों को जन्म देता है। तथा उसमें पारस्परिक निर्भरता उत्पन्न करता है। श्रम विभाजन से ही समाज में विशेषीकरण उत्पन्न होता है। अर्थात् जनसंख्या के आकार के बढ़ने के फलस्वरूप समाज में लोगों की आवश्यकताएं जैसे-जैसे बढ़ती जाती हैं, उसी प्रकार कार्यों का विशेषीकरण होकर उनकी पूर्ति होती रहती है। और प्रत्येक कार्य का

विशेषीकरण होकर उनमें पारस्परिक निर्भरता आपस में बढ़ जाती है। जिसके परिणामस्वरूप आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है, और साथ ही उस समय समाज में एक प्रकार की एकता पायी जाती है। जिसमें समाज के सदस्य बंधे रहते हैं। दुर्खीम इस एकता को 'सावयवी एकता' का नाम देते हैं। क्योंकि ऐसे समय में प्राचीन समाजों की भांति व्यक्तिगत समानता के आधार पर सामाजिक एकता को बनाए रखना संभव नहीं हुआ। इस प्रकार सरल समाजों से आधुनिक समाजों में किस प्रकार यांत्रिक एकता सावयवी एकता में परिवर्तित हो जाती है। अतः आप यहां इस प्रकार की एकता से परिचित हो गये होंगे। आइए अब हम यह जाने कि दुर्खीम ने इस प्रकार की एकता को सावयवी एकता क्यों कहा? इसलिए कहा कि यह एकता प्राणी के शरीर में पायी जाने वाली एकता से मिलती जुलती हैं शरीर में आंख केवल आंख का काम करती है। हाथ केवल हाथ का, पैर केवल पैर का, ऐसा नहीं है कि आंख हाथ का कार्य व पैर आंख का काम करे। अर्थात् स्पष्ट है कि शरीर के विभिन्न भागों में श्रम विभाजन और विशेषीकरण है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि ये एक-दूसरे से संबन्धित नहीं है। वास्तव में ये एक-दूसरे से संबन्धित व निर्भरित हैं। इसी प्रकार आधुनिक युग में सामाजिक श्रम विभाजन और विशेषीकरण के फलस्वरूप भी प्रत्येक व्यक्ति का एक विशेष प्रकार का कार्य, व्यक्तित्व व अनुभव है, लेकिन अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अन्य लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः स्पष्ट आप यहां जान गये होंगे कि आधुनिक समाज में श्रम विभाजन व विशेषीकरण होते हुए भी व्यक्ति और व्यक्ति में, व्यक्ति और समूह में, समूह और समूह में एक पारस्परिक सम्बन्ध और निर्भरता एवं एकता पाई जाती है। जिसे दुर्खीम सावयवी एकता कहता है। जो कि आगे चित्र नं0-1 द्वारा समझाया गया है। ऐसे समाज में प्रतिकारी कानून समाज में श्रम विभाजन व व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कार्य करता है। आप यहा समाज में एकता व संबिन्धत कानून से भली भांति परिचित हो गए होंगे। आइए अब हम दमनकारी व प्रतिकारी कानून को समाज संदर्भ में जाने । समाज में दो प्रकार के कानून –दमनकारी कानून व प्रतिकारी कानून दुर्खीम के अनुसार पाये जाते हैं। जिनकी चर्चा आगे है।

सरल समाज
यांत्रिक एकता
दमनकारी
कानून

जनसंख्या के आकार, घनत्व व आवश्यकता में वृद्धि



जटिल समाज
सावयवी एकता
प्रतिकारी कानून

चित्र नं0 1— सरल समाज व जटिल समाज में सामाजिक एकता

बोध प्रश्न-1

i) दुर्खीम ने अपनी डॉक्टरेट उपाधि के लिए सर्वप्रथम किस ग्रन्थ की रचना की।

- (अ) **The Sucidie**
- (ब) **The Division of labour in society**
- (स) **The Rules of sociological method**
- (द) **The Elementary forms of religious life**

ii) दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित पुस्तक "**The Division of labour in society**" कितने खण्ड है।

- (अ) तीन खण्ड
- (ब) चार खण्ड
- (स) पाँच खण्ड
- (द) सात खण्ड

iii) यांत्रिक एकता किस प्रकार के समाज की प्रमुख विशेषता है।

- (अ) सरल/आदिम व प्राचीन समाज
- (ब) आधुनिक/जटिल व विकसित समाज
- (स) (अ) व (ब) दोनों
- (द) उपयुक्त में से कोई नहीं

9.2.3 दमनकारी एवं प्रतिकारी कानून

दुर्खीम के अनुसार समाज में दो प्रकार के कानून –दमनकारी कानून एवं प्रतिकारी कानून पाये जाते हैं। जिनकी विवरण निम्न है–

दमनकारी कानून (Repressive law)–

दमनकारी कानून यांत्रिक एकता की अवस्था वाले समाज में होता है, जबकि प्रतिकारी कानून सावयवी एकता की अवस्था वाले समाज में पाया जाता है। दमनकारी कानून 'सार्वजनिक कानून' होते हैं जो व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों का नियमन करते हैं। इनमें व्यक्ति के बजाय सामूहिक हितों को अधिक महत्व दिया जाता है। दमनकारी कानून का प्रचलन आदिम समाजों में होता है जहां सामूहिक चेतना के विरुद्ध कार्य समझे जाते हैं। जो व्यक्ति सामूहिक चेतना का उल्लंघन करते हैं उन्हें दण्ड दिया जाता है। इस दण्ड का उद्देश्य समाज में नैतिक सन्तुलन को बनाए रखना होता है।

प्रतिकारी कानून (Restitutive law)–

प्रतिकारी कानून आधुनिक समाजों की विशेषता है। इन कानूनों का उद्देश्य व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में उत्पन्न असन्तुलन में सामान्य स्थिति पैदा करना होता है। क्योंकि समाज के विकास के साथ-साथ श्रम विभाजन पनपा, जिससे आदिम समाजों में पायी जाने वाली एकरूपता नष्ट हो गई तथा समाज में भिन्नताएं बहती चली गयी और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का महत्व बढ़ता चला गया। जिसकी परिणति इस रूप में हुई कि अपराध को अब समस्त समाज के विरुद्ध कार्य या सामूहिक इच्छा या उल्लंघन न समझकर व्यक्ति के विरुद्ध कार्य समझा जाने लगा। जिसके फलस्वरूप कानून का स्वरूप दमनकारी से प्रतिकारी कानून में परिवर्तन हो गया। इस कानून के अंतर्गत दीवानी कानून, व्यावसायिक कानून, संवैधानिक कानून व प्रशासनिक कानून आदि को सम्मिलित किया गया है।

अतः आप यहां जान गये होंगे कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के कानून दो भिन्न प्रकार की सामाजिक एकता अर्थात् यांत्रिक एकता व सावयवी एकता की जीवन शैली के परिणाम हैं। दमनकारी कानून में व्यक्तियों में व्याप्त समानता पाई जाती है, और इससे उत्पन्न एकता को यांत्रिक एकता का नाम दिया गया है, जबकि वही दूसरी ओर प्रतिकारी कानून का संबंध श्रम विभाजन व समाज में पनपी विभिन्नताओं से है, और ऐसे समाज में उत्पन्न एकता को दुर्खीम सावयवी एकता का नाम देता है। जिसे आप भली भाँति उपर्युक्त पढ़कर जान गये होंगे।

9.3 श्रम विभाजन के कारण एवं परिणाम**श्रम विभाजन के कारण –**

दुर्खीम कहते हैं कि श्रम विभाजन एक सामाजिक तथ्य है और इसके कारणों की खोज भी सामाजिक संदर्भ में होनी चाहिए। उन्होंने अपनी पुस्तक के दूसरे खण्ड में श्रम विभाजन के कारणों, दशाओं एवं उनके परिणामों की चर्चा की है। दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन के दो प्रमुख कारक हैं।

(अ) प्राथमिक

(ब) द्वितीयक।

प्राथमिक कारकों में वह जनसंख्या के आकार व घनत्व वृद्धि उसके परिणामों को सम्मिलित करते हैं। एवं द्वितीयक कारकों में सामान्य चेतना की बदली हुई अवस्था और पैत्रिकता के घटते प्रभाव को शामिल करते हैं। आइए अब हम यहां इन कारकों का उल्लेख करके समझते हैं।

प्राथमिक कारक–

प्राथमिक कारक में दुर्खीम जनसंख्या के आकार व घनत्व में वृद्धि को श्रम विभाजन का प्रमुख कारक मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे-जैसे जनसंख्या के

आकार व घनत्व में वृद्धि होती जाती है। वैसे ही उस समाज में रहने वाले लोगों की आवश्यकताएं उसी क्रम में बढ़ती जाती हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति का समाज में श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण ही प्रमुख रास्ता बन जाता है। इसके कार्य को श्रम विभाजन करके पूर्ण किया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप उन लोगों में पारस्परिक निर्भरता बढ़ती जाती है। उदाहरण— श्रम विभाजन व विशेषीकरण को इस प्रकार देखा जा सकता है कि जूते बनाने वाला कोई एक सिर्फ सिलाई करता है तो दूसरा पॉलिस व तीसरा बनाई आदि करता है, लेकिन वह कार्य जब पूर्ण होता है जब वे सभी मिलकर उस कार्य को विशेषीकरण के साथ करते हैं। जिससे उनमें पारस्परिक निर्भरता बनी रहती है। जोकि नैतिक घनत्व का प्रमुख कारण बनती है। जिसे नई तकनीकों एवं यातायात के संचार साधनों से ओर अधिक प्रभाव मिल जाता है। अतः आप यहां जान गये होंगे कि जनसंख्या का बढ़ना श्रम विभाजन के विकास का प्रमुख कारण बन जाता है।

द्वितीयक कारक—

द्वितीयक कारक में दुर्खीम सामान्य चेतना की बदली अवस्था व पैतृकता के घटते प्रभाव को सम्मिलित करते हैं। प्राचीन आदिम समाजों में समानताएं अधिक थीं और सामूहिकता का बोलबाला था। व्यक्ति सामूहिक चेतना से मार्गदर्शन प्राप्त करता था, लेकिन जब सामूहिक हितों पर व्यक्तिगत चेतना छा जाती है तब श्रम विभाजन और विशेषीकरण पनपता है। तथा दुर्खीम कहते हैं कि पैतृकता के प्रभाव कारण परिवर्तन के अवसर कम होते हैं लेकिन जब जनसंख्या बढ़ने के द्वारा श्रम का भी विभाजन होता है तब पैतृकता का स्तर गिरता है व व्यक्ति की स्वतंत्रता बढ़ती है। क्योंकि सरल समाजों में पैतृकता का प्रभाव ज्यादा था लेकिन आधुनिक समाजों में कम। जिसके फलस्वरूप श्रम विभाजन व विशेषीकरण बढ़ा है। अतः यहां स्पष्टतः आप जान गए होंगे कि दुर्खीम ने श्रम विभाजन के कारकों की व्याख्या समाजशास्त्रीय कारकों के आधार पर की है।

श्रम विभाजन के सामाजिक परिणाम—

दुर्खीम ने समाज में श्रम विभाजन के अध्ययन में श्रम विभाजन के सामाजिक परिणामों को बताया है, जोकि निम्न है—

1. श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप कार्यों के विभाजन के साथ-साथ कार्य करने की स्वतंत्रता और गतिशीलता में वृद्धि होती जाती है। जिससे कार्यों के परिवर्तन के अवसर भी बढ़ जाते हैं।
2. श्रम विभाजन के फलस्वरूप समाज में सावयवी एकता बढ़ती है, अर्थात् विभिन्न सामाजिक कार्यों को समाज की विभिन्न इकाइयां करती तो अवश्य हैं लेकिन उनमें सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर अन्तःसम्बन्ध और अन्तः निर्भरता बनी रहती है।

3. दुर्खीम ने सभ्यता को श्रम विभाजन का परिणाम माना है, वे कहते हैं कि जैसे श्रम विभाजन का विकास होता है, उसी अनुसार सभ्यता का विकास भी होता है।
4. श्रम विभाजन के फलस्वरूप श्रम का विशेषीकरण होता है।
5. श्रम विभाजन और विशेषीकरण के कारण व्यक्तिगत गुण एवं स्वतन्त्रता का महत्व बढ़ गया है।
6. दुर्खीम व्यक्तिगत एवं सामाजिक परिवर्तन के लिए भी श्रम विभाजन को उत्तरदायी मानते हैं।
7. श्रम विभाजन और विशेषीकरण के फलस्वरूप प्रतिकारी कानून बनाये जाते हैं जिससे व्यक्तिगत हितों की रक्षा हो सके।

9.4 श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप

श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप दुर्खीम ने अपनी पुस्तक के तीसरे खण्ड में उल्लेख किया है। दुर्खीम कहते हैं कि श्रम विभाजन के जो स्वरूप समाज में एकता स्थापित नहीं करते, उन्हें श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप कहते हैं। अतः श्रम विभाजन के जहां कुछ अच्छे परिणाम निकलते हैं, वहीं इसके कुछ व्याधिकीय परिणाम निकलते हैं। आइए अब हम यहां दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूपों को जानें। दुर्खीम ने श्रम विभाजन के तीन असामान्य स्वरूपों का उल्लेख किया है। (अ) आदर्शहीन श्रम विभाजन (ब) बलात् श्रम विभाजन (स) व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता वाला श्रम विभाजन। जिसकी चर्चा उन्होंने निम्न प्रकार से की है।

श्रम विभाजन का सामान्य आदर्श तो यह है कि विभिन्न इकाइयों के बीच सहयोग एवं सम्बद्धता हो, लेकिन जब श्रम विभाजन विभिन्न कार्यों के बीच असामंजस्य पैदा कर दे तो तब वह आदर्शहीन श्रम विभाजन कहा जाता है। जिसे हम आर्थिक व वैज्ञानिक क्षेत्र में देख सकते हैं। आर्थिक क्षेत्र में श्रम विभाजन के कारण उद्योगों में विशेषीकरण बढ़ता है इसमें एकता के साथ वहीं दूसरी ओर मालिक-मजदूर संघर्ष व हड़ताल आदि घटनाएं होती हैं। इसी प्रकार, वैज्ञानिक क्षेत्र में भी अनेक शाखाएं व उपशाखाएं आदि खुली हैं। जिससे विज्ञानों की एकता पहले की अपेक्षा कम हुई। बलात् श्रम विभाजन में दुर्खीम कहते हैं कि जब लोगों को उनकी योग्यता एवं रुचि के अनुसार कार्य नहीं मिलता है तो उन्हें पीड़ा उठानी पड़ती है। इसको जाति वर्ग में देखा जा सकता है। यह बाह्य रूप से थोपा गया श्रम विभाजन है। जिससे समाज में पूर्ण एकता स्थापित नहीं होती है। अब श्रम विभाजन का तीसरा असामान्य स्वरूप वैयक्तिक संस्थानों में कार्य करने वाले लोगों को पर्याप्त मात्रा में कार्य प्राप्त नहीं होता है जिससे अव्यवस्था व असम्बद्धता फैलती है और एकता स्थापित नहीं हो पाती है।

बोध प्रश्न-2

- i) प्रतिकारी कानून किस प्रकार के समाज की प्रमुख विशेषता है।
 (अ) सरल व प्राचीन समाज
 (ब) आधुनिक समाज
 (स) (अ) व (ब) दोनों
 (द) उपयुक्त में से कोई नहीं
 सत्य/असत्य बताइये।
- ii) यान्त्रिक एकता की अवस्था में प्रतिकारी कानून का प्रचलन होता है।
 (अ) सत्य
 (ब) असत्य
- iii) क्या दुर्खीम श्रम विभाजन को सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण मानते हैं।
 (अ) सत्य
 (ब) असत्य
- iv) दुर्खीम के अनुसार जनसंख्या के आकार में तथा भौतिक और नैतिक घनत्व में वृद्धि ने श्रम विभाजन को उत्पन्न किया है।
 (अ) सत्य
 (ब) असत्य

9.5 सारांश

दुर्खीम ने श्रम विभाजन संबंधी अपने विचारों का विस्तार से वर्णन व विश्लेषण अपनी पुस्तक "The Division of Labour in Society" सन् 1893 में किया है। और बताया है कि श्रम-विभाजन सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण है प्रारम्भ में श्रम-विभाजन लिंग भेद अर्थात् स्त्री-पुरुष भेद तथा आयु जैसे-बालक, युवा, व वृद्ध आदि के आधार पर था। क्योंकि उस समय समाज सरल व छोटे थे, जिसमें वे दमनकारी कानून द्वारा नियंत्रित होकर यांत्रिक एकता में बंधे थे लेकिन जनसंख्या के आकार, घनत्व और मानवीय आवश्यकताओं की वृद्धि ने श्रम विभाजन को जन्म दिया। जिसके फलस्वरूप श्रम विभाजन में विशेषीकरण हुआ और इस प्रकार के आधुनिक व जटिल समाजों में दमनकारी कानून परिवर्तित होकर प्रतिकारी कानून में व एकता सावयवी एकता में परिवर्तित हुई।

9.6 पारिभाषिक शब्दावली

श्रम विभाजन— श्रम विभाजन से तात्पर्य किसी भी स्थाई संगठन में मिलजुलकर काम करने वाले व्यक्तियों, या समूहों द्वारा भिन्न किन्तु समन्वयात्मक क्रियाओं के संपादन से है। अर्थात् समाज में किसी कार्य को संपादित करने वाले व्यक्तियों

के बीच सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं एवं सेवाओं के वितरण एवं वैभिन्यकरण की प्रक्रिया श्रम विभाजन कहलाती है। जिसकी अभिव्यक्ति दुर्खीम के श्रम विभाजन सिद्धांत में देखी जा सकती है।

सामाजिक एकता— सामाजिक एकता एक नैतिक घटना है यह सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है।

यांत्रिक एकता— यांत्रिक एकता सादृश्यता अथवा समानता की एकता है। अर्थात् जिसमें एक समाज के सभी सदस्य एक दूसरे के समरूप दिखाई देते हैं। व्यक्तियों की समरूपता से दुर्खीम का तात्पर्य उनकी शारीरिक समानता से न होकर मानसिक और विश्वासगत समानताओं से है।

सावयवी एकता— श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण की बहुलता के कारण प्रत्येक व्यक्ति केवल एक कार्य का ही विशेषज्ञ होता है। और दूसरे कार्यों के लिए उसे समाज के अन्य सदस्यों पर निर्भर रहना होता है। जिससे एक विशेष प्रकार की एकता अर्थात् सावयवी एकता होती है। जोकि आधुनिक जटिल समाजों की विशेषता है।

दमनकारी कानून— दमनकारी कानून 'सार्वजनिक कानून' होते हैं जो व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों का नियमन करते हैं। इनमें व्यक्ति के बजाय सामूहिक हितों को अधिक महत्व दिया जाता है। जैसे आदिम समाजों में व्यक्ति द्वारा सामूहिक चेतना का उल्लंघन करने पर दण्ड दिया जाना।

प्रतिकारी कानून— प्रतिकारी कानून आधुनिक समाजों की विशेषता है। इन कानूनों का उद्देश्य व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में उत्पन्न असन्तुलन में सामान्य स्थिति पैदा करना होता है।

असामान्य स्वरूप— श्रम विभाजन के जो स्वरूप समाज में एकता स्थापित नहीं करते, उन्हें श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप कहते हैं, जैसे— आदर्शहीन श्रम विभाजन व बलात् श्रम विभाजन आदि।

9.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- i) (ब)
- ii) (अ)
- iii) (अ)

बोध प्रश्न-2

- i) (ब)
- ii) (ब) असत्य
- iii) (अ) सत्य

 iv) (अ) सत्य

9.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Giddens, Anthony, (1978) *Durkheim*, Harvester press, Hassocks
 Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 & 2, Penguin books, London
 Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*, Allen and unvin, London
 Durkheim, Emile, (1965) *The division of labour in society*, Free press, Newyork

9.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Jones, Robert Alun, (1986) *Emile Durkheim- An Introduction to four Major Works*, sage publications, Inc.: Beverly Hills
 Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat Publication, Jaipur
 Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, polity press, Cambridge
 Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge & Kegan Paul, London
 गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
 सिंह जे0 पी0, (2008) *समाजशास्त्र-अवधारणाएं एवं सिद्धान्त*, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

9.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित श्रम विभाजन के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. यांत्रिक एकता व सावयवी एकता को समझाइए।
3. दमनकारी कानून एवं प्रतिकारी कानून किस प्रकार के समाज से सम्बन्धित हैं? तुलना कीजिए।
4. वर्तमान समाज में श्रम विभाजन सिद्धांत का महत्व स्पष्ट कीजिए।

इकाई 10 – धर्म का सिद्धांत (Theory of Religion)

इकाई की रूपरेखा**10.0 उद्देश्य****10.1 प्रस्तावना****10.2 धर्म का सिद्धांत****10.2.1 धर्म की परिभाषा एवं अर्थ****10.2.2 धर्म की उत्पत्ति के सिद्धांत****10.2.2.1 आत्मावाद****10.2.2.2 प्रकृतिवाद****10.2.2.3 टोटमवाद****10.3 धर्म के प्रकार्य****10.4 समालोचनात्मक मूल्यांकन****10.5 सारांश****10.6 पारिभाषिक भाब्दावली****10.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर****10.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची****10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री****10.10 निबंधात्मक प्रश्न**

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा—

- समाज में धर्म की अवधारणा को समझना,
- धार्मिक जीवन को वैचारिक जीवन में समझकर ज्ञान की सामाजिकता को स्पष्ट करना,
- धर्म के वैचारिक एवं व्यावहारिक पक्ष की चर्चा करना,
- समाज में धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त को बताना,
- समाज में धर्म के संदर्भ में टोटमवाद की व्याख्या करना,
- समाज व धर्म के सम्बन्ध को समझना,
- समाज में धर्म के प्रकार्य की व्याख्या दुर्खीम के अनुसार उल्लेख करना आदि।

10.1 प्रस्तावना

इस प्रस्तुत इकाई के प्रथम खण्ड में समाज में धर्म की अवधारणा एवं परिभाषा को प्रस्तुत किया गया है, जिसमें बताया गया है कि दुर्खीम ने धर्म के दो पक्षों – वैचारिक एवं व्यावहारिक का उल्लेख किया है। जिसका उल्लेख दुर्खीम की धर्म की परिभाषा में मिलता है, कि “धर्म पवित्र वस्तुओं, अर्थात् पृथक् और निषिद्ध वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और क्रियाओं की संगठित व्यवस्था है – विश्वास और क्रियाएं जो उन समस्त लोगों को चर्च नामक एक पृथक् नैतिक समुदाय के रूप में संगठित करते हैं जो उनका अनुसरण करते हैं।” इसके तत्पश्चात् धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त – आत्मावाद व प्रकृतिवाद के बारे में सविस्तार बताया गया तथा दुर्खीम ने इन दोनों सिद्धान्तों की आलोचना कर धर्म की उत्पत्ति के संदर्भ में धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप टोटमवाद के बारे में बताया गया है। जिसमें उल्लेख किया गया कि टोटम से संबंधित विभिन्न धारणाओं, विश्वासों एवं संगठन को ही टोटमवाद कहा जाता है। और इसी आधार पर दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरुण्टा जनजाति में टोटमवाद का अध्ययन किया और इसे धर्म की उत्पत्ति के संबंध में समाज में सविस्तार समझाया गया है। जिसमें दुर्खीम कहता है कि, “धर्म का स्रोत स्वयं समाज है, धार्मिक विचार समाज की विशेषताओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं। पवित्र अथवा ईश्वर केवल समाज का मानवीकरण है। और धर्म का सामाजिक कार्य सामाजिक एकता की उत्पत्ति, वृद्धि और स्थिरता में है।” और अन्त में समाज में धर्म के प्रकार्यों का उल्लेख किया गया है। जिसको पढ़कर आप समाज में धर्म के सामाजिक प्रकार्यों को समझ सकेंगे।

10.2 धर्म का सिद्धान्त

दुर्खीम केवल एक महान विचारक ही नहीं थे बल्कि वह गम्भीर और सफल शिक्षक भी थे। कठिन-से कठिन विषयों को भी सरल, तार्किक और आकर्षक ढंग से स्पष्ट करने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। विभिन्न विषयों पर उनका भाषण बहुत प्रभावपूर्ण था। दुर्खीम के बारे में उनके एक विद्यार्थी ने टिप्पणी की। जिसका उल्लेख करते हुए **हेरी एल्पर्ट (Harry Alpert)** ने लिखा है, “जो व्यक्ति उनके प्रभाव से बचना चाहते हैं, उन्हें या तो उनके पाठ्यक्रम से अलग होना पड़ेगा अथवा इच्छा या अनिच्छा से उनकी विद्वत्ता को स्वीकार करना होगा।” सच तो यह है कि दुर्खीम ने केवल विश्वविद्यालय के अन्दर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण पेरिस के बौद्धिक जीवन में एक महत्वपूर्ण सफल भूमिका निभायी। जिस समय जर्मनी में मैक्स वेबर तथा इटली के परेटो भी धर्म और समाज के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन कर रहे थे लेकिन उसी समय दुर्खीम ने अपनी पुस्तक में धर्म की विवेचना बिल्कुल नए ढंग से प्रस्तुत की। जिसको आप आगे समझेंगे।

दुर्खीम ने जनजातीय धर्म पर अध्ययन कर अनेक लेख लिखे तथा बाद में इन्हीं लेखों पर आधारित उनकी अन्तिम महत्वपूर्ण पुस्तक सन् 1912 में ‘The

Elementary Forms of Religious Life' (धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप) नाम से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति के कारण एवं प्रभाव आदि के विषय में अत्यधिक विस्तृत तथा गहन व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस पुस्तक को आज भी 'धर्म के समाजशास्त्र' का प्रमुख आधार माना जाता है। जिसमें समाज एवं धर्म की व्याख्या की गई है। दुर्खीम ने जनजातीय धर्म को धार्मिक जीवन तथा उससे संबन्धित विभिन्न प्रकार के विश्वासों और अनुष्ठानों को धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप माना है और इस पुस्तक में धर्म के प्रकार्यों की विस्तृत विवेचना की है। दुर्खीम ने धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त के द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि धर्म सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक तथ्य या सामाजिक घटना है और वह इस अर्थ में कि नैतिक रूप से सामूहिक चेतना का प्रतीक ही धर्म है। इस सम्बन्ध में दुर्खीम का अन्तिम निष्कर्ष यही है कि समाज ही वास्तविक देवता है।

दुर्खीम ने जितने भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, उनकी झलक **धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप** में देखी जा सकती है। इस ग्रन्थ के माध्यम से ही आपने 'धर्म के समाजशास्त्र' 'नैतिकता के समाजशास्त्र' और 'ज्ञान के समाजशास्त्र' की नींव रखी। इस ग्रन्थ के बारे में **रेमण्ड ऐरन** लिखते हैं, "यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह सर्वाधिक विस्तृत है, सर्वाधिक मौलिक है, मेरे विचार से यह ऐसी कृति भी है जिसमें दुर्खीम की प्रेरणा सर्वाधिक स्पष्ट होती है।" धर्म के प्रारम्भिक स्वरूपों के अध्ययन के द्वारा दुर्खीम ऐतिहासिक विधि का प्रयोग करते हैं और सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण के महत्व को प्रदर्शित करते हैं। इस विधि के द्वारा दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति, रचना और प्रकृति को समझने का प्रयत्न किया है। धर्म के प्रारम्भिक स्वरूपों का अध्ययन, धर्म के समाजशास्त्र की स्थापना के साथ-साथ ज्ञान और विचार के सामाजिक स्रोत की भी व्याख्या करता है। धार्मिक जीवन को वैचारिक जीवन के रूप में प्रस्तुत कर दुर्खीम ने ज्ञान की सामाजिकता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस प्रतिपादित सिद्धान्त में दुर्खीम ने आदिम समाजों में प्रचलित धार्मिक विश्वासों और कृत्यों का विश्लेषण करके **गोत्र एवं टोटम व्यवस्था** को प्राचीन धार्मिक व्यवस्था का आधार बताया है। इसमें आपने ऑस्ट्रेलिया की **अरुण्टा जनजाति** में पायी जाने वाली टोटम व्यवस्था का उल्लेख किया है। इसी के साथ दुर्खीम ने अपने 'समूहवाद' एवं 'समाजशास्त्रवाद' का भी प्रयोग किया है।

दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित 'धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप' नामक ग्रन्थ **तीन भागों** में विभक्त है— **प्रथम भाग** में कुल चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में धर्म की परिभाषा दी गयी है। दूसरे तथा तीसरे अध्याय में धर्म के प्रचलित सिद्धान्त आत्मावाद और प्रकृतिवाद की आलोचना को बताया गया है तथा चतुर्थ अध्याय में टोटमवाद को धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप में दर्शाया गया है। **दूसरे भाग** में कुल नौ अध्याय हैं जिनमें टोटम की अवधारणा, मनुष्य और पशु के रूप में टोटम, गोत्र समूह, टोटमवाद का सिद्धान्त और उसकी शक्ति, आत्मा और प्रेतात्मा एवं

देवताओं, आदि की व्याख्या की गयी है। इस भाग में टोटम से संबंधित विश्वासों और मान्यताओं की विस्तृत विवेचना की गयी है। तीसरे भाग में धार्मिक संस्कारों और अनुष्ठानों का वर्णन है। इस भाग में कुल पांच अध्याय है। जिनमें विरक्ति और निषेध, बलि, कर्तव्यबोध, पूर्वज-स्मृति, पवित्रता आदि से संबंधित विभिन्न प्रकार के संस्कारों, कृत्यों एवं अनुष्ठानों का उल्लेख है। इस सिद्धांत को पढ़ने के उपरान्त आपको समाज में धर्म से संबन्धित तथ्यों का विश्लेषण करने में मदद मिलेगी। आइए अब हम आगे धर्म की परिभाषा एवं अर्थ को जानने कर प्रयत्न करते हैं।

10.2.1 धर्म की परिभाषा एवं अर्थ

दुर्खीम धर्म की अपनी परिभाषा देने से पूर्व धर्म के बारे में प्रचलित परिभाषाओं का खण्डन करते हैं। कुछ विद्वान जैसे रेविल धर्म में दैवीय तत्व को आवश्यक मानते हैं। वे धर्म को मानव मस्तिष्क को दैवीय मस्तिष्क से जोड़ने वाला तत्व मानते हैं। लेकिन दुर्खीम कहते हैं कि ऐसे कई समाज हैं जिनसे आत्मा और देवता का कोई स्थान नहीं है। जैसे— बौद्ध एवं जैन धर्म ऐसे ही धर्म हैं जिनमें किसी भी देवता की कल्पना नहीं की गयी है। दोनों ही धर्म नास्तिक धर्म हैं। प्रचलित परिभाषाओं की आलोचना के बाद दुर्खीम ने धर्म को परिभाषित कर लिखा है, कि “धर्म पवित्र वस्तुओं, अर्थात् पृथक् और निषिद्ध वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और क्रियाओं की संगठित व्यवस्था है — विश्वास और क्रियाएं जो उन समस्त लोगों को चर्च नामक एक पृथक् नैतिक समुदाय के रूप में संगठित करते हैं जो उनका अनुसरण करते हैं।” धर्म की इस परिभाषा में दुर्खीम ने धर्म के दो पक्षों —**वैचारिक एवं व्यावहारिक** का उल्लेख किया है। विचार के रूप में धर्म विश्वासों का संकल्प है और व्यावहारिक रूप में इसमें अनेक प्रकार के कृत्य, संस्कार और अनुष्ठान सम्मिलित हैं। प्रथम विचार की अवस्था है और प्रतिनिधित्वों से निर्मित होती है और दूसरी क्रिया करने की निर्धारित विधियां हैं। संस्कार विश्वास का क्रियात्मक पक्ष है।

विश्वासों की व्याख्या करते हुए दुर्खीम कहते हैं कि विश्व के समस्त धार्मिक विश्वास जगत कर वास्तविक और आदर्शात्मक वस्तुओं को दो भागों में विभाजित करते हैं— **पवित्र** और **अपवित्र**। विश्वास प्रतिनिधानों की वह व्यवस्था है जो पवित्र वस्तुओं की प्रकृति को व्यक्त करती है। पवित्र वस्तुओं में देवताओं, आध्यात्मिक शक्तियों या आत्माओं के अतिरिक्त गिरि —कन्दरा, वृक्ष, पत्थर, जलस्रोत, नदी, आदि भी सम्मिलित हो सकते हैं। संस्कार स्वयं भी एक पवित्र क्रिया होते हैं। अपवित्र वस्तुओं की तुलना में पवित्र वस्तुएं अधिक शक्ति और शान रखती हैं। पवित्र वस्तुएं मनुष्य की श्रद्धा और आस्था का केन्द्र होती हैं। मनुष्य सदैव उनके सामने नतमस्तक होता है, सहायता के लिए याचना करता है। विश्वासों और संस्कारों के अतिरिक्त दुर्खीम ने धर्म की एक तीसरी विशेषता चर्च का भी उल्लेख किया है। जिसके आधार पर धर्म और जादू को अलग किया

जाता है। धर्म और जादू में दुर्खीम ने अनेक भेद दर्शाए हैं। धर्म एक सामुहिक तथ्य है। जबकि जादू एक व्यक्तिगत तथ्य है। जादू का कोई चर्च नहीं होता है। अतः आप यहा समाज में धर्म को परिभाषित करना व उसके अर्थ को समझना जान गये होंगे। जो निम्न चित्र में भी दर्शाया गया है—



बोध प्रश्न—1

i) धर्म से संबंधित सिद्धांत दुर्खीम ने किस पुस्तक में प्रतिपादित किया ?

.....
.....

ii) दुर्खीम ने अपने प्रतिपादित सिद्धांत में आदिम समाजों में प्राचीन धार्मिक व्यवस्था का आधार किसे बताया है ?

.....
.....

iii) दुर्खीम ने अपने प्रतिपादित सिद्धांत में ऑस्ट्रेलिया की किस जनजाति का अध्ययन किया है ?

.....
.....

iv) दुर्खीम के अनुसार प्रत्येक धर्म में पाये जाने वाले समान तत्व है ?

.....
.....

सत्य/असत्य बताइए ?

v) अपवित्र वस्तुओं की तुलना में पवित्र वस्तुएं अधिक शक्ति और शान रखती है। पवित्र वस्तुएं मनुष्य की श्रद्धा और आस्था का केन्द्र होती है।

.....
.....

vi) "धर्म पवित्र वस्तुओं, अर्थात् पृथक् और निषिद्ध वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और क्रियाओं की संगठित व्यवस्था है – विश्वास और क्रियाएं जो उन समस्त लोगों को चर्च नामक एक पृथक् नैतिक समुदाय के रूप में संगठित करते हैं जो उनका अनुसरण करते हैं।" धर्म की यह परिभाषा किसने दी है ?

- अ) मैलिनोवस्की
- ब) रेविल
- स) दुर्खीम
- द) उपरोक्त में से कोई नहीं।

10.2.2 धर्म की उत्पत्ति के सिद्धांत

दुर्खीम ने धर्म के सम्बन्ध में अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करने से पूर्व समाज में प्रचलित दो सिद्धांत आत्मावाद और प्रकृतिवाद की आलोचना की है। आइए अब हम यहा आत्मावाद व प्रकृतिवाद सिद्धांत को भी समझने का प्रयत्न करते हैं—

10.2.2.1 आत्मावाद —समाज में धर्म से संबन्धित आत्मावाद सिद्धांत के प्रतिपादक एडवर्ड टायलर हैं। टायलर ने जीववाद के सिद्धांत में आत्मा के विचार पर बल दिया है। टायलर धर्म की उत्पत्ति के लिए आत्मा के विचार को उत्तरदायी मानते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान मनुष्य को जाग्रत और सुषुप्त दो अवस्थाओं के कारण हुआ है। आदिमानव ने देखा कि जब वह सोता है तो वह कई ऐसे स्थानों पर चला जाता है अथवा ऐसे लोगों से मिलता है जिनकी सम्भावना जाग्रत अवस्था में उसे नहीं होती है। इसी प्रकार का अनुभव मनुष्य को जीवन और मृत्यु की घटनाओं से भी होता है। मरने पर शरीर से कोई वस्तु निकलकर चली जाती है, उसके बाद मनुष्य का खाना, पीना, हिलना—डुलना सब बन्द हो जाता है, सुषुप्त अवस्था में भी ऐसा ही होता है किन्तु जागने पर मनुष्य पुनः क्रियाशील हो जाता है। इन दोनों अवस्थाओं से आदिमानव को आत्मा का विचार उत्पन्न हुआ है। ये आत्माएं छोटी और बड़ी अर्थात् सभी प्रकार की होती हैं, ये शक्तिशाली होती हैं। मरने के बाद मनुष्य की आत्माएं, प्रेतात्माएं या अध्यात्मिक शक्तियां बन जाती हैं ये प्रेतात्माएं ही बाद में देवताओं के रूप में मानी जाने लगती है। उनमें विशेष शक्तियां होती है। जिनकी मनुष्य पूजा करने लगता है। इस प्रकार प्रेतात्माओं की पूजा से एवं मृतक पूजा के रूप में आदिम धर्म अर्थात् आत्मवाद का उदय हुआ है। यही टायलर का आत्मवाद / जीववाद का सिद्धांत है। किन्तु दुर्खीम आत्मवाद के इस सिद्धान्त को पूर्णरूप से स्वीकार नहीं करते हैं।

10.2.2.2 प्रकृतिवाद — धर्म की उत्पत्ति के बारे में मैक्स मूलर ने प्रकृतिवाद को जन्म दिया है। प्रकृतिवाद का सिद्धांत धर्म की उत्पत्ति

प्रकृति से बताता है। इनके अनुसार धर्म की उत्पत्ति प्राकृतिक शक्तियों के भय के कारण हुई है। वे कहते हैं कि धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप प्रकृति पूजा और प्राकृतिक वस्तुओं जैसे चांद, सूरज, तारे, बिजली, पानी, हवा, अग्नि आदि की पूजा करना रहा है। इनकी मान्यता थी कि विशाल प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर लोगों में अनंत की भावना पैदा होती थी कि जिससे ये वस्तुएं लोगो के लिए अनंत का प्रतीक बन गईं। मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों का नामकरण भी उनकी प्रत्यक्ष क्रिया के आधार पर किया है। आदिम मानव ने प्राकृतिक वस्तुओं के पीछे देवताओं और आध्यात्मिक शक्तियों की कल्पना की। और बाद में इन प्रतीकों का देवताओं के रूप में अवतार हो गया। उसने सोचा कि ऐसी कोई-न-कोई शक्ति है जो इन सब का संचालन व नियमन करती है। इस प्रकार मैक्स मूलर प्रकृति पूजा में ही धर्म की उत्पत्ति खोजते हैं किन्तु दुर्खीम इस सिद्धांत को अस्वीकार करते हैं। आपका कहना है कि आत्मवाद और प्रकृतिवाद दोनों में ही धर्म की उत्पत्ति के सामाजिक कारकों की अवहेलना की गई है।

10.2.2.3 टोटमवाद —अब हम यहा दुर्खीम के टोटमवाद के सिद्धांत को समझते हैं— दुर्खीम ने उन विद्वानों की आलोचना कि जो धर्म की व्याख्या व्यक्ति के मनोविज्ञान के संदर्भ में करते हैं। यदि धर्म किसी भ्रम या माया की उपज है तो वह इतने लम्बे समय तक जीवित कैसे रहा और सारे संसार में इसका अस्तित्व क्यों है तथा मैक्समूलर के प्रकृतिवाद को दुर्खीम शब्दों का आडम्बर और रूपक अलंकारों का खेल मात्र मानता है। क्योंकि अनेक आदिम समुदाय तथाकथित महत्वपूर्ण प्राकृतिक शक्तियों— आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि को नियमित रूप से घटने वाली चीज मानते हैं। दुर्खीम कहता है कि धर्म के आदिरूप टोटमवाद में तों केवल सामान्य जीवों की पूजा की जाती थी जैसे— खरगोश, मेंढक आदि मामूली प्राणियों को पूजा जाता था, जो न तो भयकारी थे और न ही रहस्यपूर्ण थे। अतः दुर्खीम ने दोनो सिद्धांतों का खण्डन करते हुये धर्म के महत्व को सामाजिक संदर्भ में खोजा है। दुर्खीम ने टोटमवाद को ही धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप माना है। टोटमवाद को इसलिए चुना क्योंकि क्योंकि धर्म के रूप की दृष्टि से यह सबसे प्राचीन था और टोटमवाद की विशेषताएं अपने आप में अलग थी जिससे टोटमवादी रीति रिवाजों से पवित्र और लौकिक का अंतर उपजा था और यह संगठन दृष्टि से भी सरल था।

दुर्खीम ने ऑस्ट्रेलिया की अरुण्टा जनजाति में टोटमवाद का अध्ययन कर धर्म की उत्पत्ति को स्पष्ट किया है। टोटम क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए दुर्खीम लिखते हैं कि टोटम एक नाम भी है, और

एक प्रतीक या चिन्ह भी है। नाम के रूप में टोटम किसी गोत्र समूह से सम्बन्धित वस्तु है। गोत्र समूह का नाम है। अक्सर टोटम एक पशु या पक्षी हो सकता है या किसी प्रकार की वनस्पति या ऐसा पूर्वज जिससे समुदाय विशेष की उत्पत्ति मानी जाती है। टोटम पवित्र होता है और इसे विशेष सम्मान दिया जाता है। समुचित विधि विधान/ अनुष्ठान के बिना टोटम से संपर्क करना असंभव है। टोटम सामूहिक रूप में कुल की अस्मिता के प्रतीक के रूप में काम करता है। कुल का टोटम ही उसके सदस्यों का टोटम होता है। टोटम के पवित्र जगत के विपरीत लौकिक जगत होता है। पवित्र व लौकिक के बीच पूर्ण विभेद है। पवित्र व लौकिक का विभाजन सभी धर्मों में विद्यमान हैं।

ऑस्ट्रेलिया की जनजाति में प्रत्येक गोत्र का एक टोटम होता है और टोटम के आधार पर ही गोत्र का नामकरण होता है। एक जनजाति के दो गोत्रों का एक ही टोटम नहीं हो सकता। एक टोटम को मानने वालों में परस्पर नातेदारी एवं रक्त के सम्बन्ध होते हैं, वे अपनी उत्पत्ति उस टोटम से मानते हैं, अतः वे परस्पर भाई बहिन समझे जाते हैं इसलिए वे आपस में विवाह नहीं करते। इस प्रकार दुर्खीम टोटमवाद को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— टोटमवाद नैतिक कर्तव्यों और मौलिक विश्वासों का वह समूह है जिनके द्वारा हम समाज पशु पौधे, तथा अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के बीच एक पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आदिवासी यह मानते हैं कि टोटम में अलौकिक शक्ति का निवास है जो उनके सामाजिक जीवन को नियंत्रित करती है।

दुर्खीम ने टोटम की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

- प्रत्येक गोत्र का एक टोटम होता है जिसके साथ गोत्र के सभी सदस्य अपना पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध मानते हैं।
- गोत्र का नाम उसके टोटम के आधार पर होता है। साथ ही वह गोत्र का परिचय चिन्ह भी होता है।
- टोटम कोई पेड़ पौधा, पशु पक्षी और निर्जीव तथा अलौकिक वस्तु जैसे— सूर्य, चन्द्र, आदि हो सकते हैं।
- टोटम की प्रकृति धार्मिक है। टोटम के आधार पर ही वस्तुओं को पवित्र और अपवित्र समझा जाता है। टोटम स्वयं पवित्र वस्तु है, वह पवित्रता का केंद्र है।
- गोत्र के सदस्य यह विश्वास करते हैं कि टोटम संकट के समय उनकी रक्षा करता है। वह भविष्यवाणियां करता है, चेतावनियां देता है, वह स्वप्न में आकर कोई बात कह सकता है।

- टोटम सामूहिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है। टोटम के प्रचलित विश्वासों के बाद दुर्खीम इन विश्वासों की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हैं

दुर्खीम टोटमवाद को धर्म की उत्पत्ति का आधार एवं सामूहिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक मानते हैं। दुर्खीम का मत है, कि धार्मिक विचारों की उत्पत्ति सामूहिक एकीकरण के संवेगात्मक अवसरों पर होती है। वे यह मानते हैं कि समस्त सामाजिक तत्व का उद्गम मनुष्यों का पारस्परिक सम्पर्क है।

धर्म मुख्यतया: सामाजिक है जिसे दुर्खीम ने अरूण्टा जनजाति का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। अरूण्टा जनजाति ऑस्ट्रेलिया की आदिम जनजाति है। अरूण्टा जनजाति कुलों में बँटी हुई है। एक नाम वाले लोगों के समूह को कुल कहते हैं। अरूण्टा जनजाति के कुलों में सदस्यता रक्त सम्बन्धों पर आधारित नहीं होती है तथा कुलों का नाम उनके टोटम के आधार पर होता है। टोटम एक प्रतीक चिन्ह है, पवित्र वस्तु है। लकड़ी के टुकड़ों तथा पालिश किये गये पत्थरों पर टोटम का चिन्ह उत्कीर्ण किया जाता है। जिससे वह पवित्र बन जाता है तथा उसे चुरिगा कहा जाता है। चुरिगा से धार्मिक भाव उत्पन्न होते हैं। जिस स्थान पर चुरिगा को रखा जाता है वह एर्तनातुलुगां कहलाता है। यह शान्तिस्थल माना जाता है। अनुष्ठान करने वालों को चुरिगा से शक्ति प्राप्त होती है, चुरिगा पूर्वज का शरीर तथा आत्मा है।

दुर्खीम ने अरूण्टा में मनाए जाने वाले **कोरोबारी उत्सव** के आधार पर सामूहिक एकीकरण द्वारा धार्मिक विचारों की उत्पत्ति को स्पष्ट किया है। कोरोबारी के अवसर पर मनुष्य उत्साह और आनन्द से भर जाते हैं, वे आनन्दतिरेक में अपने पर नियन्त्रण नहीं रख पाते। यदि कोई दुःखद बात होती है तो वे पागलों की भांति चक्कर काटते हैं, चिल्लाते हैं, धूल में लोटते हैं। दुर्खीम ने आदिवासियों के उत्सव और सामूहिक मिलन के अवसर पर होने वाले उत्तेजक क्रियाकलापों का बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। सामूहिक एकीकरण स्वयं एक शक्तिशाली उत्तेजना है। जब वे परस्पर निकट आते हैं तो एक ऐसी बिजली सी उत्पन्न होती है जो उन्हें आनन्द के आकाश में उड़ा ले जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में सुझाव-ग्रहणशीलता बढ़ जाती है, प्रत्येक मन एक-दूसरे से प्रतिध्वनित होता है। संवेग की तीव्रता में चारों ओर अनियंत्रित हाव-भाव, शोर-शराबा और चीख-पुकार की ध्वनियां सक्रिय हो जाती हैं। सामूहिक भावना सामूहिक क्रियाओं को जन्म देती है। सामूहिक जीवन के इस उफान में व्यक्ति अपने को भूल जाता है। वह ऐसा अनुभव करता है, मानो वह एक नया प्राणी है जो एक विचित्र संसार में भ्रमण कर रहा है। उन उत्सवों में आदिम लोगों को एक पृथक् संसार में जीवन बिताने की अनुभूति होती है। पृथक् संसार के क्रियाकलापों में ही धार्मिक विश्वासों और विचारों का जन्म होता है। दुर्खीम के ही शब्दों में, "अतः यह प्रतीत

होता है कि इन उद्वेलित सामाजिक परिस्थितियों के बीच और स्वयं इस उफान में से धार्मिक विचार जन्म लेता है।

दुर्खीम ने अरूण्टा जनजाति के सामाजिक जीवन के निम्न दो पक्षों का उल्लेख किया है—

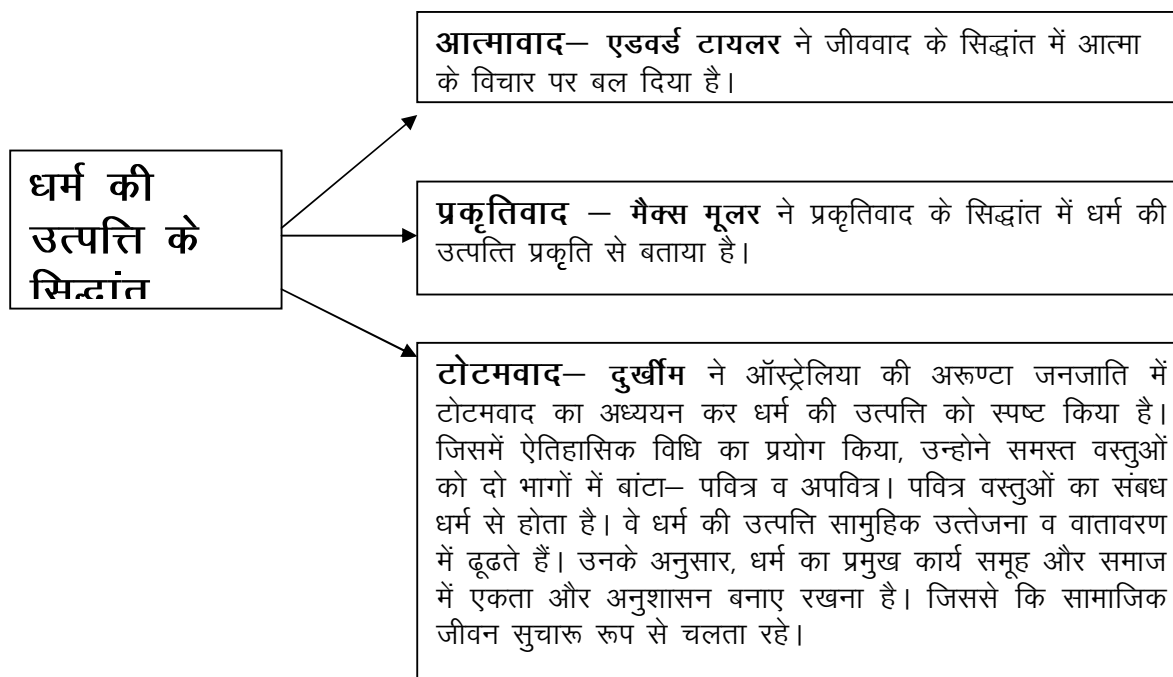
1. सांसारिक या धर्म—निरपेक्ष— यह मनुष्यों के सामान्य व्यावसायिक जीवन से सम्बन्धित है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने सामान्य स्वभाव के अनुसार दैनिक जीवन में आर्थिक क्रियाओं में लगा रहता है। इस स्थिति में व्यक्तियों का जीवन सामान्य, स्थिर, निस्तेज और प्रायः निष्क्रिय रहता है। लोगों में कोई उत्साह दिखाई नहीं देता। दुर्खीम इसे जीवन का अपवित्र पक्ष अथवा सांसारिक, लौकिक या वैयक्तिक पक्ष कहते हैं।

2. धार्मिक एवं पवित्र पक्ष— इस पक्ष की अभिव्यक्ति उत्सवों, आदि के अवसर पर होती है जब लोग एकत्रित होते हैं। इस समय समूह के लोगों में विशेष उत्साह, प्रेरणा और सक्रियता पाई जाती है। सामूहिक जोश में व्यक्ति अपने निजीपन को भूलकर सामूहिक सत्ता में घुल-मिल जाता है। उसकी अच्छी और बुरी सभी क्रियाएं सामूहिक प्रेरणा द्वारा संचालित होती हैं। सामूहिक शक्ति में विश्वास करने से व्यक्ति अपने को सुरक्षित महसूस करता है। समूह जिस कार्य को स्वीकृति दे देता है चाहे वह वह पवित्र हो या अपवित्र अथवा निषिद्ध, सभी धार्मिक व पवित्र समझे जाते हैं।

इस प्रकार दुर्खीम धर्म की उत्पत्ति सामूहिक उत्तेजना और जीवन में दूढ़ते हैं। धर्म एक सामूहिक आदर्श है। टोटम अलौकिक या ईश्वरीय शक्ति का प्रतीक है, टोटम गोत्र है, अतः ईश्वरीय गोत्र है। गोत्र मानव समूह है अतः समूह ही ईश्वर है। दुर्खीम के ही शब्दों में, “**धर्म का स्रोत स्वयं समाज है**, धार्मिक विश्वास केवल मात्र समाज की विशेषताओं के प्रतीक है। पवित्र अथवा ईश्वर केवल समाज का मानवीकरण है, और धर्म का सामाजिक कार्य समाज में सामाजिक एकता की उत्पत्ति करना, वृद्धि करना और स्थायित्व लाना है।”

इसप्रकार दुर्खीम समाज को ही ईश्वर मानता है। ईश्वर ही भांति समाज भी नैतिक शक्ति रखता है, और सदस्यों को आत्मबलिदान के लिए प्रेरित कर सकता है। धर्म एकत्रित समूह में जन्म लेता है। समाज का विचार धर्म की आत्मा है। धर्म की उत्पत्ति समाज में हुई है न कि आत्मा परमात्मा के विचारों अथवा प्रकृति के भय से हुई है। धर्म का सामाजिक कार्य व्यक्ति को परस्पर नजदीक लाना एवं उन्हें एक सूत्र में बाँधकर सामाजिक एकता लाना है। अतः आप उपरोक्त वर्णन से भलीभाँति दुर्खीम के धर्म के सिद्धांत को समझ गये होंगे।

चित्र-धर्म की उत्पत्ति के सिद्धांत



10.3 धर्म के प्रकार्य

दुर्खीम के अनुसार धार्मिक तत्वों का दो मूलभूत श्रेणियों में विभाजन— विश्वास एवं अनुष्ठान वैसा ही है जैसा सोचने में करने में है। इस प्रकार चिंतन के आधार पर बोधपरक व करने के आधार पर सामाजिक प्रकार्यों के संदर्भ में धर्म की चर्चा की गई है। दोनों के आधार पर कुछ प्रकार्यों की चर्चा की गई है, जो कि निम्न है—

दुर्खीम ने धर्म के निम्नांकित प्रकार्यों का उल्लेख किया है—

1. धर्म ही समाज के लोगों को सामूहिक जीवन में भाग लेने तथा अनुशासन में रहने की प्रेरणा देता है।
2. धर्म सामाजिक एकता को बनाए रखता है। क्योंकि जो लोग एक धर्म तथा धर्म से सम्बन्धित संस्कारों, विश्वासों एवं कृतियों में विश्वास करते हैं, उनमें हम की एवं एकता की भावना पाई जाती है।
3. धर्म ही समूह को पुनर्जीवन प्रदान करता है। समय-समय पर धार्मिक उत्सवों को मनाने से समाज का विचार व्यक्ति के मन में गहरा पैठ जाता है।
4. धर्म व्यक्ति के जीवन में समाज की उपयोगिता को सिद्ध करता है।

5. धर्म संवेगों और भावनाओं को सन्तुलित रखता है, वह वर्तमान को अतीत से तथा व्यक्ति को समूह से जोड़ता है। आदि है, लेकिन सभी प्रकार्यों का उद्देश्य समाज में सामाजिक एकता की उत्पत्ति करना, वृद्धि करना और स्थायित्व लाना है।

10.4 समालोचनात्मक मूल्यांकन

दुर्खीम के धर्म सम्बन्धी विचारों पर अनेक विद्वानों ने अपनी आलोचनाएं एवं राय प्रस्तुत की हैं। जिसमें रेमण्ड ऐरन, सोरोकिन, बोगार्डस, बीरस्टीड, आदि प्रमुख हैं तथा साथ ही इवान्स प्रिचार्ड ने भी दुर्खीम के सिद्धांत की आलोचना की है, जो कि निम्न है—

- **इवान्स प्रिचार्ड** यह आवश्यक नहीं है कि हर समाज में पवित्र व लौकिक में सामाजिक कार्यकलापों के क्षेत्र का बँटवारा होता है, ये सदैव एक दूसरे के विरोधी हो ऐसा भी जरूरी नहीं है। क्योंकि श्रीलंका के वेड्डा समुदाय तथा मलेनेशियाई लोगो में पवित्र व लौकिक में बँटवारा होता हो ऐसा कोई अस्तित्व प्रतीत नहीं होता है। यह अनिवार्य नहीं कि टोटमवाद कुल का धर्म हो। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के कारणों को सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत किया और अपनी बात का खण्डन करते हुये कहा कि ऐसे समुदाय द्वारा संपन्न किये गये अनुष्ठानों में पैदा सामूहिक संवेग से धर्म की उत्पत्ति होती है। यहा ध्यान देने योग्य है कि दुर्खीम सामाजिक के स्थान पर संवेगात्मक पहलू पर अधिक जोर दे रहा है।
- **रेमण्ड ऐरन** ने दुर्खीम की इस बात की आलोचना की है कि उसने समाज को एक सार्वभौमिक अमूर्त तथ्य के रूप में मान्यता देने के बजाय समाजों के आधार पर धर्म की व्याख्या की है।
- **बीरस्टीड** ने दुर्खीम द्वारा टोटमवाद की व्याख्या को अनावश्यक रूप से उलझी हुई और विस्तृत बताया है। वे लिखते हैं, “यह अनेक पृष्ठों तक चलता है, जिनमें से कुछ, यह स्वीकार करना चाहिए, विश्वास और विचार के संस्कार और अनुष्ठान के विस्तृत विवरण के कारण बोझिल हो गए हैं।”
- **बार्नेस** का मत है कि धर्म के बारे में दुर्खीम की कई मान्यताएं निराधार हैं। ईश्वर और समाज एक नहीं है और सामूहिक क्रियाएं केवल सम्पर्क की घनिष्ठता और घनत्व के बढ़ने से पवित्रता को जन्म नहीं दे सकती।
- **सोरोकिन** का मत है कि दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति में सामाजिक सम्पर्क को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। और प्राणिशास्त्रीय कारकों की अवहेलना की है। सामाजिक सम्पर्क मनुष्य की विशिष्ट शारीरिक रचना का ही परिणाम है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा आलोचनाओं के बावजूद भी दुर्खीम का यह कार्य उनकी समाजशास्त्रीय मान्यताओं का विशद विवेचन है। धर्म की व्याख्या में उनका समूहवादी दृष्टिकोण समक्ष आया है। धर्म की व्याख्या के अन्तर्गत आपने ज्ञान, विचार, नैतिकता, सामाजिक मूल्य, आदि विभिन्न बौद्धिक और आध्यात्मिक पक्षों को सामाजिक धरातल पर समझाने का प्रयत्न किया है। जो कि समाजशास्त्रीय जगत में धर्म को समझने के लिए अनुपम देन है।

बोध प्रश्न-2

i) धर्म की उत्पत्ति के टोटमवाद सिद्धांत से कौन विद्वान संबंधित है ?

.....

ii) निम्नलिखित कौन सिद्धांत किससे सुमेलित है, सुमेलित कीजिए।

- | | |
|----------------|--------------|
| (अ) प्रकृतिवाद | दुर्खीम |
| (ब) टोटमवाद | मैक्समूलर |
| (स) आत्मावाद | एडवर्ड टायलर |

iii) सत्य/असत्य बताइये।

(अ) जीववाद के सिद्धांत में आत्मा के विचार पर बल किसने दिया है ?

(मैक्समूलर)

(ब) धर्म की उत्पत्ति के बारे में मैक्स मूलर ने प्रकृतिवाद को जन्म दिया है।

(स) दुर्खीम ने टोटमवाद को ही धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप माना है।

iv) यह कथन किसका है— "धर्म का स्रोत स्वयं समाज है ?

.....

v) दुर्खीम ने धर्म की व्याख्या के लिए टोटमवाद को क्यों चुना ?

.....

vi) दुर्खीम द्वारा टोटम की कोई दो विशेषताओं का उल्लेख किजिए।

.....

vii) दुर्खीम द्वारा धर्म के कोई दो प्रकारों का उल्लेख किजिए।

.....

viii) कोरोबारी उत्सव किस जनजाति में मनाया जाता है ?

.....

ix) टोटमवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी दो लाईन में लिखिए।

.....
.....

x) दुर्खीम के अनुसार पवित्र व टोटम क्या है ?

.....
.....

10.5 सारांश

इस प्रस्तुत इकाई में दुर्खीम ने धर्म के सिद्धान्त के बारे में बताया है। जिसका उल्लेख उनकी कृति 'The Elementary Forms of Religious Life' में किया है। दुर्खीम ने इस कृति के सिद्धान्तों में ऐतिहासिक विधि का प्रयोग किया और धर्म की उत्पत्ति, रचना, प्रकृति व समाज आदि का उल्लेख किया है। जिसमें दुर्खीम ने अपने धर्म व समाज से संबंधित विचारों में टायलर, मैक्समूलर आदि के सिद्धान्तों को अस्वीकार किया और कहा कि धर्म एक सामाजिक घटना या तथ्य है। इसलिए इसकी उत्पत्ति समाज में ढूँढी जानी चाहिए। धर्म की उत्पत्ति के संदर्भ में उसने आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति का अध्ययन किया। उसमें प्रचलित टोटम की अवधारणा के आधार पर धर्म की व्याख्या की। दुर्खीम ने धर्म के अध्ययन के लिए टोटमवाद को चुना है क्योंकि धर्म के रूप की दृष्टि से यह सबसे प्राचीन था और टोटमवाद की विशेषताएं अपने आप में अलग थीं। उन्होंने समस्त वस्तुओं को दो भागों में बांटा— पवित्र व अपवित्र, और बताया कि पवित्र वस्तुओं का संबंध धर्म से होता है। वे धर्म की उत्पत्ति सामुहिक उत्तेजना व वातावरण में ढूँढते हैं। उनके अनुसार, धर्म का स्रोत स्वयं समाज है। ईश्वर समाज का मानवीकरण है और समाज स्वयं ईश्वर है। धर्म का प्रमुख कार्य समूह और समाज में एकता और अनुशासन बनाए रखना है। जिससे कि सामाजिक जीवन सुचारु रूप से चलता रहे।

10.6 पारिभाषिक शब्दावली

धर्म — धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और क्रियाओं की संगठित व्यवस्था है।

वैचारिक पक्ष — विचार के रूप में धर्म विश्वासों का संकलन है। जो कि प्रतिनिधियों से निर्मित होती है।

व्यावहारिक पक्ष — व्यावहारिक रूप में इसमें अनेक प्रकार के कृत्य, संस्कार और अनुष्ठान सम्मिलित होते हैं। संस्कार विश्वास का क्रियात्मक पक्ष है।

अलौकिक अथवा दैविक — प्राकृतिक शक्तियों के परे कुछ अदृश्य शक्तियों जिनका संभवत मानव जीवन पर

प्रभाव पड़ता है।

जीववाद – इस शब्द का प्रयोग धार्मिक तत्वों की प्रकृति की व्याख्या के संदर्भ में हुआ है। टायलर ने जीववाद के अनुसार धर्म का उद्भव इस विश्वास से जुड़ा है कि सभी निर्जीव वस्तुओं और प्राकृतिक तत्वों का आध्यात्मिक रूप आत्मा होता है। इसी कारण आदिम जाति के लोगों को कुछ विशिष्ट अनुभव होते हैं जिनके कारण उन्हें भय या आश्चर्य की अनुभूति होती है।

आत्मवाद – आत्मवाद के प्रतिपादक टायलर हैं, जिसमें वे धर्म की उत्पत्ति आत्मा के विचार को मानते हैं।

प्रकृतिवाद – इसके प्रतिपादक मैक्समूलर हैं, जिसमें वे धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप प्रकृति पूजा और प्राकृतिक वस्तुओं को मानते हैं।

टोटमवाद – दुर्खीम ने टोटमवाद को धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप माना है। टोटम डाक नाम भी है और एक प्रतीक चिन्हन आदि भी। टोटम से संबंधित विभिन्न धारणाओं, विश्वासों एवं संगठन को ही टोटमवाद कहा जाता है।

पवित्र— सर्वोच्च सम्मानित तथा सर्व पवित्र तत्वों का जगत है। दुर्खीम इसे लौकिक से अलग रखता है।

टोटम – किसी जानवर या पक्षी का लकड़ी अथवा पत्थर का प्रतिरूप जिसे पूरे जन समुदाय विशेष का पौराणिक पूर्वज माना जाता है।

निशेध— किसी वस्तु को देखने, छूने या उसके संपर्क में आने पर प्रतिबंध होना।

10.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- i) 'The Elementary Forms of Religious Life'
- ii) गोत्र एवं टोटम व्यवस्था को
- iii) ऑस्ट्रेलिया की **अरूण्टा जनजाति** का अध्ययन किया है।
- iv) विश्वास और अनुष्ठान का
- v) सत्य
- vi) स) दुर्खीम

बोध प्रश्न-2

- i) दुर्खीम
- ii) सुमेलित-

- (अ) प्रकृतिवाद – मैक्समूलर
 (ब) टोटमवाद – दुर्खीम
 (स) आत्मावाद – एडवर्ड टायलर
- iii) (अ) असत्य
 (ब) सत्य
 (स) सत्य
- iv) दुर्खीम
- v) दुर्खीम ने धर्म की व्याख्या के लिए टोटमवाद को इसलिए चुना क्योंकि धर्म के रूप की दृष्टि से यह सबसे प्राचीन था और टोटमवाद की विशेषताएं अपने आप में अलग थी जिससे टोटमवादी रीति रिवाजों से पवित्र और लौकिक का अंतर उपजा था और यह संगठन दृष्टि से भी सरल था।
- vi) 1— टोटम की प्रकृति धार्मिक है। टोटम के आधार पर ही वस्तुओं को पवित्र और अपवित्र समझा जाता है। टोटम स्वयं पवित्र वस्तु है, वह पवित्रता का केंद्र है।
 2— प्रत्येक गोत्र का एक टोटम होता है जिसके साथ गोत्र के सभी सदस्य अपना पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध मानते हैं। टोटम कोई पेड़ पौधा, पशु पक्षी और निर्जीव तथा अलौकिक वस्तु जैसे— सूर्य, चन्द्र, आदि हो सकते हैं।
- vii) दुर्खीम द्वारा धर्म के कोई दो प्रकारों निम्न है—
 1— धर्म संवेगों और भावनाओं को सन्तुलित रखता है, वह वर्तमान को अतीत से तथा व्यक्ति को समूह से जोड़ता है। आदि है, लेकिन सभी प्रकारों का उद्देश्य समाज में सामाजिक एकता की उत्पत्ति करना, वृद्धि करना और स्थायित्व लाना है।
 2— धर्म ही समाज के लोगों को सामूहिक जीवन में भाग लेने तथा अनुशासन में रहने की प्रेरणा देता है।
- viii) ऑस्ट्रेलिया की अरुण्टा जनजाति में
- ix) टोटमवाद – दुर्खीम ने टोटमवाद को धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप माना है। टोटम डाक नाम भी है और एक प्रतीक चिन्हन आदि भी। टोटम से संबधित विभिन्न धारणाओं, विश्वासों एवं संगठन को ही टोटमवाद कहा जाता है।
- x) पवित्र— सर्वोच्च सम्मानित तथा सर्व पवित्र तत्वों का जगत है। दुर्खीम इसे लौकिक से अलग रखता है।
- xi) टोटम – किसी जानवर या पक्षी का लकड़ी अथवा पत्थर का प्रतिरूप जिसे पूरे जन समुदाय विशेष का पौराणिक पूर्वज माना जाता है।

10.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Giddens, Anthony, (1978) *Durkheim*, Harvester press, Hassocks
- Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 & 2, Penguin books, London
- Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*, Allen and unvin, London
- Durkheim, Emile, (1964) *The elementary forms of religious life*, Free press, Newyork
- मजूमदार, डी०एन० और मदान, टी०एन०, (1986) एन इंट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रोपॉलाजी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
- गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- वर्मा, ओमप्रकाश, (1984) दुर्खीम एक अध्ययन, विवके प्रकाशन, दिल्ली

10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Jones, Robert Alun, (1986) *Emile Durkheim- An Introduction to four Major Works*, sage publications, Inc.: Beverly Hills
- Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat Publication, Jaipur
- Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, polity press, Cambridge
- Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge & Kegan Paul, London
- सिंह जे० पी०, (2008) समाजशास्त्र—अवधारणाएं एवं सिद्धान्त, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली
- पिकरिंग डब्ल्यू० एस०एफ०, (1993) दर्खाइमस् सोशियोलोजि आफ रिलिजन, रटजन एंड केगन पाल, लंदन

10.10 निबंधात्मक प्रश्न

5. दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित समाज में धर्म के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
6. धर्म क्या है? टोटमवाद की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
7. धर्म की उत्पत्ति के सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
8. समाज में धर्म के प्रकार्यों का सैद्धान्तिक वर्णन कीजिए।

इकाई 11— प्रोटेस्टेंट आचारशास्त्र और पूंजीवाद (Protestant Ethics & Capitalism)

इकाई की रूपरेखा

- 11.0 उद्देश्य
- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 जीवन चित्रण : मैक्स वेबर
- 11.3 धर्म और अर्थ
 - 11.3.1 धर्म
 - 11.3.2 अर्थ
 - 11.3.3 धार्मिक नैतिकता तथा अर्थ के बीच परस्पर संबंध
- 11.4 प्रोटेस्टेंट नैतिकता तथा पूंजीवाद
 - 11.4.1 पूंजीवाद की चेतना
 - 11.4.2 प्रोटेस्टेंट नैतिकता : पूंजीवाद के विकास को प्रभावित करने वाली विशेषताएँ
- 11.5 धर्म के संबंध में वेबर का तुलनात्मक अध्ययन
 - 11.5.1 चीन में कन्फ्यूशसवाद
 - 11.5.2 पश्चिम एशिया में यहूदी धर्म
 - 11.5.3 भारत में हिन्दू धर्म
- 11.6 वेबर के धर्म तथा अर्थ संबंधी अध्ययनों का समालोचनात्मक मूल्यांकन
- 11.7 सारांश
- 11.8 संदर्भ सूची
- 11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- धर्म तथा आर्थिकी के अर्थ तथा उनके परस्पर संबंधों का विवेचना करना,
- वेबर द्वारा चर्चित आधुनिक पूंजीवाद के विकास पर प्रोटेस्टेंट नैतिकता के प्रभावों की व्याख्या करना,

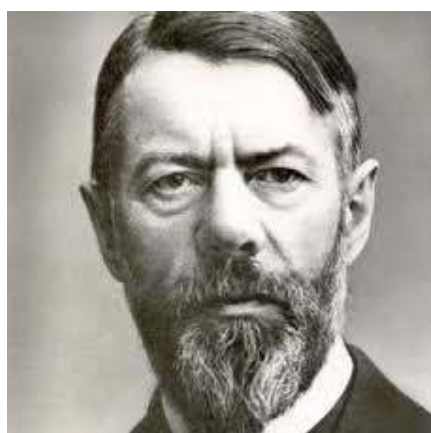
- विश्व के तीन धर्मों—चीन में कन्फ्यूशसवाद, पश्चिम एशिया में यहूदी धर्म तथा भारत में हिन्दू धर्म के बारे में वेबर द्वारा प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययनों की समीक्षा, तथा
- धर्म तथा आर्थिकी पर मैक्स वेबर के अध्ययनों का मूल्यांकन करना।

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आपको वेबर के धर्म तथा आर्थिकी अथवा अर्थव्यवस्था संबंधी विश्लेषण में आदर्श प्रारूप के विचार को प्रयुक्त करके दिखाया गया है। इस इकाई के प्रारंभ में हमने धर्म तथा आर्थिकी अथवा अर्थव्यवस्था नामक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है और फिर धार्मिक विश्वासों तथा आर्थिक क्रियाकलाप के बीच पारस्परिक संबंधों की जाँच की है। इनके बीच परस्पर संबंधों को स्पष्ट करने के लिए हमने मैक्स वेबर की प्रसिद्ध पुस्तक **द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म** में दिए गए प्रमुख तर्क का विवेचना किया है। हमने बताया है कि पूँजीवाद की प्रवृत्ति से वेबर का क्या अभिप्राय था और यह परंपरावाद से कैसे भिन्न थी। इसके बाद हमने “प्रोटेस्टेंट नैतिकता” के कुछ पहलुओं पर चर्चा की है, वेबर के अनुसार जिसने पश्चिमी दुनिया में पूँजीवाद के विकास में काफी योगदान किया था।

हमने धार्मिक विश्वासों तथा आर्थिक क्रियाकलाप के बीच संबंध को भी स्पष्ट किया है और इसके लिए वेबर द्वारा प्रस्तुत तीन धर्मों—चीन में कन्फ्यूशसवाद, प्राचीन पश्चिम एशिया में यहूदी धर्म तथा भारत में हिन्दू धर्म के तुलनात्मक अध्ययनों का वर्णन किया है। अंत में हमने अर्थव्यवस्था तथा धर्म के बारे में वेबर के विचारों का मूल्यांकन किया है।

11.2 जीवन चित्रण : मैक्स वेबर (1864–1920)



मैक्स वेबर का जन्म जर्मनी के थुरिंगा (Thuringia) शहर में 21 अप्रैल 1864 को एक प्रोटेस्टेंट परिवार में हुआ था। वह अपने माता-पिता के सात पुत्रों में से सबसे बड़ा था। वेबर के पिता पश्चिमी जर्मनी के व्यापारियों तथा वस्त्र निर्माताओं के परिवार में उत्पन्न हुए थे। दृढ़ प्रोटेस्टेंट विश्वासों के कारण यह परिवार कैथोलिक धर्म-प्रधान क्षेत्र सालज़बर्ग से भगा दिया गया। वेबर के जन्म के समय उनके पिता एरफ़र्ट में मैजिस्ट्रेट थे तथा सक्रिय राजनीति में उनकी रुचि थी। बर्लिन के नगर पार्षद के

रूप में उनके राजनीतिक जीवन की शुरुआत हुई। बाद में वे प्रशा के हाउस ऑफ़ डेप्युटीज़ के सदस्य बन गए। वे दक्षिणपंथी उदारवादी थे तथा राष्ट्रीय उदार दल के एक महत्वपूर्ण सदस्य थे। इस दल ने बिस्मार्क से लड़ाई बंद की तथा उसकी राजनीति का समर्थन किया। वस्तुतः वेबर के पिता व्यवस्था पक्ष के एक बुर्जुआ राजनीतिज्ञ थे तथा आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करते थे। परंतु वेबर की माता बड़े धार्मिक विचारों वाली महिला थीं। उन्होंने कैल्विनवादी कर्तव्य भावना पर बहुत अधिक विश्वास था। उनकी बहुत सी बातें अपने पति से भिन्न थीं जिनका व्यक्तिगत आचार प्रोटेस्टेंट होने के बजाए आमोद-प्रमोद तथा सुख संबंधी था (कोजर, 1977 : 235)।

प्रारंभिक शिक्षा

वेबर बचपन में बहुत कमजोर था। उसे चार वर्ष की आयु में मेनिनजाइटिस हो गई थी। उसे खेल से अधिक पुस्तकें प्रिय थीं। प्रारंभिक किशोरावस्था में उसने व्यापक अध्ययन कर अपनी बौद्धिक रुचियाँ विकसित कर लीं। उसका पालन-पोषण बौद्धिक वातावरण में हुआ था। छोटी अवस्था में ही वह त्रिशके, साइबल, डिल्थी तथा प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताओं से मिल चुका था। उसने गोथे, स्पिनोजा तथा कांट आदि के विचारों को भी पढ़ा। भाषा, इतिहास तथा साहित्य में उसे श्रेष्ठ माध्यमिक शिक्षा मिली थी। फिर भी, अपने स्कूली शिक्षा काल में वेबर संकोची तथा अंतर्मुखी प्रकृति का था। स्कूल के अध्यापक वेबर की अनुशासनहीनता तथा सत्ता के प्रति अनादर की भावना की अक्सर शिकायत करते थे।

1882 में 18 वर्ष की आयु में वेबर हैडेलबर्ग विश्वविद्यालय में आया। यहाँ आकर संकोची तथा अलग-थलग रहने वाला वेबर अचानक सक्रिय हो गया तथा समाज में लोगों से मिलने-जुलने लगा। विश्वविद्यालय में वह छात्रों के बीच लोकप्रिय हो गया। परंतु उसने तीन सत्रों के बाद अपनी शिक्षा पूरी किए बगैर स्ट्रासबर्ग में सेना की नौकरी शुरू कर दी।

दो वर्ष की सैनिक नौकरी के पश्चात् 1884 में वेबर अपने माता-पिता के पास वापस लौट गया। अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए उसने बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। गॉटिंगन विश्वविद्यालय में भी शिक्षा प्राप्त की। इन दिनों जब वह घर में ही रह रहा था, वेबर को अपनी माँ के व्यक्तित्व तथा धार्मिक मूल्यों से परिचित होने का अधिकाधिक मौका मिला।

विद्यार्थी के रूप में, वेबर ने बर्लिन विश्वविद्यालय के अध्यापकों के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध स्थापित किए। उसने 1889 में **हिस्टरी ऑफ़ कमर्शियल सोसायटीज़ इन द मिडिल एजेज़** पर अपनी पी.एच.डी. का शोध प्रबंध लिखा तथा **रोमन अग्रेरियन हिस्टरी** पर अपना उत्तर-डॉक्टरीय (post-doctoral) शोध प्रबंध भी लिखा जो विश्वविद्यालय में अध्यापक का पद प्राप्त करने के लिए

आवश्यक था। उत्तर-डॉक्टरीय शोध प्रबंध समाप्त करने पर वेबर ने बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का पद ग्रहण किया तथा इसी समय वह विश्वविद्यालय के विधि संकाय (law faculty) में शैक्षिक पद पर भी बना रहा। इन दिनों वेबर के रहन-सहन के तरीके में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। धीरे-धीरे वह आत्मसंयमी की भाँति अनुशासित हो गया तथा रोजमर्रा के जीवन में साधुवत कठोरता का पालन करने लगा।

बौद्धिक विकास

1893 में मैक्स वेबर का मारिऐन शिनत्गर से विवाह हो गया। विवाह से पहले उसकी नियुक्ति फ्राइबर्ग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में हो गई थी। यहाँ वेबर की अनेकों वार्ताओं तथा भाषणों से उसकी महान विद्वता के दर्शन हुए। 1895 में **द नैशनल स्टेट एण्ड इकॉनॉमिक पॉलिसी** पर दिए गए उसके भाषण पर अनेकों विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। 1896 में वेबर को हैडेलबर्ग में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में नियुक्त किया गया। धीरे-धीरे उसे वहाँ के बुद्धिजीवियों में एक प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया।

इस दौरान ईसाई सामाजिक राजनीतिक केंद्रों में सक्रिय होकर वेबर ने राजनीति में रुचि लेना प्रारंभ कर दिया। वेबर ने उस समय जर्मनी की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों पर अनेकों लेख प्रकाशित किए। वस्तुतः वह अपने बौद्धिक तथा राजनीतिक कार्यकलापों दोनों में एक साथ ही सक्रिय हो गया। परंतु 1898 में अचानक इस होनहार जीवन में बाधा पड़ गई।

अपने पिता की निरंकुश प्रतारणा के विरुद्ध माँ का बचाव करते समय एक तनावपूर्ण बहस के थोड़ी देर बाद वेबर के पिता का देहांत हो गया। बाद में वेबर ने अनुभव किया कि पिता के प्रति उसका वह व्यवहार सही नहीं था तथा जिसकी परिपूर्ति नहीं हो सकती थी। धीरे-धीरे वेबर मानसिक रोग से ग्रसित हो गया। 1898 में उसका स्नायुतंत्र बिगड़ गया तथा पाँच वर्ष से अधिक समय तक वह बीमार रहा।

इस दौरान वेबर कोई काम नहीं कर सका। यद्यपि उसने बार-बार अध्यापन का कार्य फिर से शुरू करने का प्रयास किया परंतु वह असफल रहा। उसकी बाँहें तथा पीठ की तरफ का भाग लकवाग्रस्त हो गया। वह पढ़ भी नहीं पाता था। विश्वविद्यालय ने उसे सवेतन अवकाश की मंजूरी दे दी। बिना पर्याप्त काम किए विश्वविद्यालय से धन पाने के कारण वह मानसिक बोझ से भी दुखी था।

मानसिक अस्वस्थता के कारण डॉक्टरों ने उसे यात्रा तथा व्यायाम करने का सुझाव दिया। अगले कुछ वर्षों में वेबर ने इटली तथा स्विट्ज़रलैंड का खूब भ्रमण किया। इन यात्राओं से वेबर की हालत में धीरे-धीरे सुधार हुआ। 1902 में वह हैडेलबर्ग वापस आ गया तथा पुस्तकें व व्यावसायिक पत्रिकाएँ पढ़ने जैसे हल्के फुल्के काम करने लगा।

1903 में आर्कीव फ्यूअर सोसियालविसेनशाफ्ट (Archiv Fuer Sozialwissenschaft) जर्मनी में सामाजिक विज्ञान की प्रमुख पत्रिका के रूप में विख्यात हुई। पत्रिका के सह-संपादक के रूप में उसने अपने विद्वत कार्यकलाप फिर से शुरू किए। एक बार फिर वेबर की शैक्षणिक योग्यता में अत्यधिक निखार आया। 1904 में उसने सामाजिक व आर्थिक मुद्दों पर, सामाजिक विज्ञानों में वस्तुपरकता के प्रश्न पर तथा **प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड व स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म** के पहले भाग के रूप में महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किए। उसी वर्ष एक शैक्षिक निमंत्रण पर वह अमरीका भी गया। वेबर अमरीका के आर्थिक विकास तथा वहाँ की संस्कृति से प्रभावित हुआ। अपने इस दौरे के दौरान उसने पूँजीवादी विचारधारा के सभी पहलुओं श्रम समस्या, आप्रवासी तथा राजनीतिक प्रबंधन के प्रश्नों में अपनी रुचि दिखाई। कोलम्बिया विश्वविद्यालय में उसने प्रोटेस्टेंट विचारधारा में प्रयोग की जाने वाली अध्ययन सामग्री की भी खोज की (गिडेन्स, 2006 : 183)। वस्तुतः वेबर के बहुत से सैद्धांतिक निरूपणों का संबंध उसकी अमरीका यात्रा से जुड़ा हुआ है। उदाहरणतः प्रोटेस्टेंट नैतिकता तथा पूँजीवाद के प्रादुर्भाव के बीच संबंध तथा राजनीतिक संगठन के प्रकार्य आदि।

वेबर के जीवन काल के आगामी वर्ष उसके जीवन के बहुत उत्पादक वर्ष थे। सामाजिक विज्ञानों की शोध पद्धति पर वेबर द्वारा लिखे गए प्रसिद्ध लेख का अंग्रेजी अनुवाद, **मैक्स वेबर ऑन द मैथडॉलाजी ऑफ सोशल साइंसिज़**, नाम से हुआ तथा **द प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म** पर लिखा गया उसका प्रसिद्ध शोध प्रबंध भी इन्हीं दिनों पूरा हुआ। आगामी वर्षों में वेबर ने रूस के राजनीतिक परिवर्तनों पर अनेकों महत्वपूर्ण अध्ययन किए। इसके अलावा उसने अपने दादा/नाना की फ़ैक्टरी के औद्योगिक श्रमिकों के सामाजिक मनोविज्ञान पर एक आनुभाविक अध्ययन भी किया। 1910 में वह टोनीज़ तथा ज़िमेल के साथ जर्मनी की समाजशास्त्रीय समिति का सह-संस्थापक बन गया (कोजर, 1977 : 239)। शैक्षणिक गतिविधियों के साथ-साथ वेबर एक बार फिर से राजनीतिक बैठकों तथा वाद-विवादों में शामिल होने लगा।

वेबर एक राष्ट्रवादी था। जब प्रथम महायुद्ध प्रारंभ हुआ तो उस समय वह 50 वर्ष का था। यद्यपि वेबर राष्ट्रवादी था, पर वह जर्मन नेताओं की युद्ध नीतियों से संतुष्ट नहीं था। उसने युद्ध के संचालन तथा जर्मनी के नेतृत्व की अनुपयुक्तता की कटु आलोचना की। परंतु सत्ता में आए हुए नेताओं ने उसके विचारों तथा सलाह को कभी नहीं माना। वास्तव में वेबर द्वारा जर्मनी की राजनीतिज्ञ संरचना में पूर्ण परिवर्तन का समर्थन करने के लिए सरकार ने उस पर अभियोग चलाने का इरादा किया। तथापि सभी प्रकार की धमकियों तथा चुनौतियों के बावजूद भी वेबर जर्मनी में उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था का समर्थन करता रहा।

1918-1920 के वर्षों के दौरान वेबर ने सक्रिय राजनीति क्षेत्र में प्रवेश किया। वह डॉयशे डैमोक्रेटिशे पारताई (Deutsche Demokratische Partei) का संस्थापक सदस्य था। 1919 में वर्साई शांति सम्मेलन (Versailles Peace Conference) में वह

जर्मनी के प्रतिनिधि मंडल का सलाहकार तथा जर्मनी का नया संविधान लिखने के प्राथमिक काम में सहभागी बन गया। इस काल में सने जर्मन राजनीतिक व्यवस्था के लोकतंत्रीय लक्ष्य की तर्कसंगत व्याख्या करने के लिए अनेकों छात्रों तथा शैक्षिक समूहों के बीच भाषण दिए। मैक्स वेबर के राजनीतिक विचारों और गतिविधियों का एक ओर तो सत्ता में आए नेताओं तथा दूसरी ओर वामपंथियों द्वारा जबरदस्त विरोध हुआ।

1915 और 1920 के बीच राजनीतिक गतिविधियों के साथ-साथ वेबर ने शैक्षिक क्षेत्र में भी बहुत अधिक योगदान किया। प्रथम महायुद्ध के दौरान उसने धर्म के समाजशास्त्र पर अपना अध्ययन पूरा किया। **द रिलीज़न ऑफ़ चाइना : कन्फ्यूशियनिज़्म एण्ड ताओइज़्म**, 1915 में पहली बार प्रकाशित हुई। **द रिलीज़न ऑफ़ इंडिया : द सोशियोलॉजी ऑफ़ हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म**, 1916-17 में प्रकाशित हुई। **ऐन्शियंट जूडाइज़्म**, 1917 में प्रकाशित हुई।

1919 में वेबर ने म्यूनिख विश्वविद्यालय में **साइंस ऐज़ ए वोकेशन तथा पॉलिटिक्स ऐज़ ए वोकेशन** अपना प्रसिद्ध भाषण दिया। वस्तुतः इस भाषण में जर्मनी में क्रांतिकारी उथल-पुथल के समय वेबर के राजनीतिक और बौद्धिक अभिविन्यास की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने के उसके महत्वपूर्ण प्रयास की झलक मिलती है। वेबर ने इस काल में विर्टशाफ्ट तथा गेसेलशाफ्ट (अर्थव्यवस्था और समाज) पर भी गहन कार्य किया। परंतु वह इन रचनाओं को पूरा नहीं कर सका। बाद में, उसकी मृत्यु के बाद 1920 में फ्रैंक एच नाइट ने **जनरल इकोनॉमिक हिस्टरी** में इनका अनुवाद प्रकाशित किया (कोजर, 1977 : 241)।

1920 में जून के प्रारंभ में वेबर को तेज़ बुखार हो गया। शुरु में इसका निदान प्लू किया गया। बाद में डॉक्टरों ने इसे न्यूमोनिया बताया। 14 जून 1920 को इस प्रसिद्ध समाजशास्त्री को देहांत हो गया।

प्रमुख कृतियाँ

वेबर की प्रमुख प्रकाशित रचनाओं की कालक्रमिक सूची अनुक्रम में नीचे दी गई है। इस सूची में अन्य प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों द्वारा अनुवादित तथा सम्पादित पुस्तकें भी शामिल हैं।

1. (1896) 1950. **द सोशल कॉज़िज ऑफ़ डिके ऑफ़ एशिअंट सिविलाइजेशन. जनरल ऑफ़ जनरल एजुकेशन**, 5 : 75-88
2. (1904-1905) 1930. **द प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ़ कैपीटलिज़्म** (अनुवादक टालकट पारसन्स, आर.एच. टॉनी). ऐलन एण्ड अनविन : लंदन
3. (1915) 1951. **द रिलीज़न ऑफ़ चाइना : कन्फ्यूशियनिज़्म एण्ड ताओइज़्म**. फ्री प्रेस : गलैन्को
4. (1904-1905) तथा (1917) 1949, **मैक्स वेबर ऑन द मैथडोलॉजी ऑफ़ सोशल साइंसिस**, (अनुवाद व संपादित एडवर्ड शिल्स एंड एच.ए.फिन्च), फ्री प्रेस : गलैन्को

5. (1916–1917) 1952. *द रिलीज़न ऑफ इंडिया : द सोशियोलॉजी ऑफ हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म*. (अनुवाद व संपादित हंस एच गर्थ एण्ड डॉन मार्टिन्डेल) फ्री प्रेस : गलैन्को
6. (1917) 1952. *ऐशिएंट जुडाइज्म*. फ्री प्रेस : गलैन्को
7. (1919–1920) 1950. *जनरल इकोनॉमिक हिस्ट्री*. (अनुवाद फ्रैंक एच नाईट), फ्री प्रेस : गलैन्को
8. (1921) 1958. *द सिटी*. फ्री प्रेस : गलैन्को
9. (1922) 1957. *द थ्यूरी ऑफ सोशल एण्ड इकोनॉमिक आरगनाइजेशन* (अनुवाद व संपादित ए.एम. हैंडरसन एण्ड टालकॉट पारसंस). फ्री प्रेस : गलैन्को
10. (1906–1924) 1958, *फ्रॉम मैक्स वेबर : एसेज़ इन सोशियोलॉजी*. (अनुवाद व संपादित हंस एच. गर्थ एण्ड सी. राइट मिल्स) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : न्यूयार्क

11.3 धर्म तथा अर्थ

इस भाग में हमने धर्म तथा अर्थ के अर्थ की संक्षेप में चर्चा की है। इन दोनों शब्दों के अर्थ बताने के बाद हमने अगले भाग में धर्म तथा अर्थ के बीच संबंध के बारे में वेबर द्वारा प्रतिपादित प्रारंभिक विचारों का विवेचन किया है।

11.3.1 धर्म

धर्म शब्द से हमारा तात्पर्य "अलौकिक" शक्तियों के बारे में विचारों तथा विश्वासों के एक समुच्चय तथा उसके मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से है। मानव के समक्ष हमेशा से कुछ ऐसी समस्याएँ और संकट आते रहे हैं जिनका कोई तार्किक समाधान नहीं किया जा सका है।

11.3.2 अर्थ

अर्थ से हमारा क्या तात्पर्य है? समाज के अस्तित्व के लिए कुछ बुनियादी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होना जरूरी होता है। खाना, कपड़ा और आवास जीवन की अनिवार्य जरूरतें हैं। अर्थ या अर्थव्यवस्था का संबंध हमारे समाज द्वारा बनाई गई वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन, उपभोग तथा वितरण से संबंधित प्रबंधों से होता है।

11.3.3 धार्मिक नैतिकता तथा अर्थ के बीच परस्पर संबंध

हमने धर्म और अर्थ का संक्षेप में तात्पर्य स्पष्ट किया है। ऊपर से देखने में ये दोनों एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न लगते हैं। धर्म का संबंध पारलौकिक से है तो अर्थ का संबंध कार्य करने, उत्पादन करने और उपभोग करने के व्यावहारिक

कार्य—व्यापार से होता है। एक दूसरे से भिन्न दिखाई देने वाली इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच कोई संबंध होता है?

मैक्स वेबर के अनुसार इन दोनों के बीच आपसी संबंध होता है। उसके मतानुसार मानव समाज के विचार, विश्वास, मूल्य तथा विश्व के प्रति दृष्टिकोण ही उनके सदस्यों के कार्यकलापों और यहाँ तक कि उनके आर्थिक क्षेत्र कार्यकलापों का दिशा—निर्देश करते हैं। जैसा हमने पहले बताया है, धर्म मनुष्य के आचार—व्यवहार के लिए कुछ दिशा—निर्देश निर्धारित करता है। इन दिशा—निर्देशों के अनुसार ही धर्मावलम्बी अपने कार्यकलापों को निर्देशित या निरूपित करते हैं। ये दिशा—निर्देश प्रत्येक धार्मिक पद्धति के धार्मिक नैतिक मूल्यों में समाहित होते हैं। आइए, वेबर के विचारों को अपने समाज से एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें।

यदि कोई स्वास्थ्य विशेषज्ञ यह सुझाव दे कि यदि भारत के लोग गाय का माँस खाने लगे तो भूख तथा कपोषण की समस्या कम की जा सकती है। किन्तु गौवध का मात्र विचार ही अधिकांश हिंदुओं के लिए घृणा करने योग्य है और इसे पूरी तरह अस्वीकार कर दिया जाएगा। इसलिए गौवध चाहे आर्थिक दृष्टि से **तार्किक** या युक्तिपूर्ण लगे किन्तु समाज के मूल्य तथा विचार (इस विषय में यह विचार कि गाय को पवित्र माना जाता है) कुछ निर्णयों पर निश्चिततः अपना प्रभाव डालते हैं। हमारे विश्वास और मूल्य ही हमारे व्यवहार का रूप निर्धारित करते हैं। धार्मिक विश्वासों तथा आर्थिक व्यवहार के बीच इसी संबंध को वेबर ने अपनी कृतियों में उजागर करने की कोशिश की।

उसके अनुसार प्रोटेस्टेंट धर्म तथा पूँजीवाद के नाम से विख्यात आर्थिक व्यवस्था के बीच कुछ अनुरूपताएँ या समानताएँ विद्यमान थीं। वेबर ने कहा कि इन्हीं समानताओं ने पश्चिमी जगत में पूँजीवाद के विकास में सहायता दी।

आगे के भाग में हमने वेबर के कृति में दिए गए इस प्रमुख तर्क की व्याख्या की है।

बोध प्रश्न 1

i) “धर्म” से आप क्या समझते हो।

.....

ii) अर्थ के दो प्रकार्य बताइए।

.....

11.4 प्रोटेस्टेंट नैतिकता तथा पूँजीवाद

वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूँजीवाद के बीच एक सकारात्मक संबंध स्थापित किया है। वेबर के अनुसार पाश्चात्य पूँजीवाद ने जो स्वरूप लिया, वह प्रोटेस्टेंट नैतिकता की व्यवस्था पर आधारित था। वेबर का यह मत था कि प्रोटेस्टेंट नैतिकता का पूँजीवाद से घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध को दर्शाने के लिए वेबर ने

प्रोटस्टेंट नैतिकता की प्रवृत्ति के आदर्श प्रारूप निर्मित किए। आइए, अब हम देखें कि वेबर का पूँजीवाद से क्या अभिप्राय है।

11.4.1 पूँजीवाद की चेतना

आदमी काम क्यों करता है? हममें से अधिकांश का उत्तर होगा “पैसा कमाने के लिए।” धन इसलिए कमाया जाता है कि हम और हमारा परिवार खाना खा सके, कपड़े पहन सकें और सिर ढकने के लिए मकान बना सकें। धन इसलिए भी कमाया जाता है कि हम कुछ ऐसी आरामदायक और विलासिता का वस्तुओं का भी उपभोग कर सकें जो जिंदगी को खुशहाल बनाती हैं।

सम्पत्ति या लाभ अर्जित करने की इच्छा उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव जाति का इतिहास। सम्पत्ति हमेशा से ही शक्ति, प्रस्थिति तथा प्रतिष्ठा का प्रतीक मानी जाती रही है। लेकिन मानव इतिहास में पहले कभी भी सम्पत्ति की इच्छा ऐसा संगठित तथा व्यवस्थित रूप धारण नहीं कर सकी जैसा कि उसने आधुनिक या तार्किक पूँजीवाद में ग्रहण किया है। वेबर इसी तार्किक पूँजीवाद का अध्ययन करना चाहता था। उसने पूर्वकालिक पारंपरिक या जोखिम भरे पूँजीवाद तथा आधुनिक काल के तार्किक पूँजीवाद के बीच भेद किया।

वेबर के अनुसार पूँजीपति संपत्ति की इच्छा सुखी या विलासी जिंदगी बिताने के लिए नहीं अपितु उसके माध्यम से और अधिक संपत्ति अर्जित करने के लिए करते थे। धन की खातिर धन अर्जित करने की यह प्रबल इच्छा ही आधुनिक पूँजीवाद का सार-तत्व है। पूँजीवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसका लक्ष्य उत्पादन के तर्कपूर्ण संगठन के माध्यम से असीमित लाभ संचित करना होता है।

पूँजीवाद इंग्लैंड तथा जर्मनी जैसे पश्चिमी देशों में उभरा जहाँ औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। इन देशों में कारखाना प्रणाली के विकास, उत्पादन की नई तकनीकों की खोज, नए-नए औजारों और मशीनों के प्रयोग ने पूँजीपतियों तथा मालिकों को असीम मात्रा में धन कमाना संभव कर दिया। इसके लिए उत्पादन की प्रक्रिया को तार्किक दृष्टि से संगठित किया जाना जरूरी था अर्थात् दूसरे शब्दों में दक्षता तथा अनुशासन लागू करना अनिवार्य था।

श्रमिक एक साध्य का साधन मात्र बन गया और साध्य लाभ हो गया। काम के प्रति अभिवृत्ति यह हो गई कि काम को ठीक तरह से केवल इसलिए नहीं किया जाना है कि व्यक्ति को काम करना ही चाहिए, अपितु इसलिए किया जाना है कि उसके साथ अंतर्भूत पारिश्रमिक जुड़ा है। प्रसिद्ध अमरीकी कहावत “कोई भी काम जो करने लायक है वह अच्छी तरह करने लायक होता है” इस अभिवृत्ति की परिचायक है। कड़ी मेहनत के साथ तथा दक्षता के साथ काम करना स्वयं में एक साध्य बन गया।

वेबर ने इस कार्य-नैतिकता और परंपरावाद के बीच अंतर को दर्शाया।

यहाँ पर श्रमिक अधिक वेतन की अपेक्षा कम काम तथा मेहनत की बजाय आराम को अधिक पसंद करते थे। वे नई कार्य-विधियों तथा तकनीकों को अपनाने में अक्षम होते थे या अनिच्छुक होते थे।

जैसा हमने पहले बताया है, पूँजीवाद में पूँजीपति श्रमिक को साध्य का एक साधन ही मानता है। लेकिन परंपरावाद के अंतर्गत श्रमिक और पूँजीपति के बीच संबंध अनौपचारिक, प्रत्यक्ष और वैयक्तिक होते थे।

परंपरावाद पूँजीवाद के विकास में बाधक होता है। पूँजीवाद के अंतर्गत व्यक्तिवाद, नए-नए आविष्कार तथा लाभ कमाने की अनथक चेष्टा को अधिक महत्व दिया जाता है। लेकिन परंपरावाद, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उत्पादन की अपेक्षाकृत कम अनुशासित तथा दक्ष प्रणाली पर आधारित होता है। हमने अभी देखा है कि पूँजीवाद की प्रवृत्ति एक ऐसी कार्य-नैतिकता पर आधारित होती है जिसका उद्देश्य **संपत्ति के लिए संपत्ति का संचयन** करना होता है। ऐसा करने के लिए कार्य का एक दक्षतापूर्ण, अनुशासित ढंग से संगठित करना होता है। मेहनत के साथ काम करना एक ऐसा गुण होता है जिसके साथ **अन्तर्भूत पारिश्रमिक** जुड़ा होता है।

परंपरावाद के विपरीत पूँजीवाद की प्रवृत्ति में व्यक्तिवाद अभिनव प्रयोग, मेहनत तथा संपत्ति के लिए ही संपत्ति संचित करने की चाह की जरूरत होती है। इसलिए यह ऐसी आर्थिक नैतिकता है जो पहले की सभी नैतिकताओं से बिल्कुल भिन्न है।

आइए अब वेबर की "प्रोटेस्टेंट नैतिकता" को समझने की चेष्टा करें अर्थात् प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रमुख सिद्धांतों या आदर्शों की चर्चा करें।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर बताइये।

(i) वेबर के अनुसार आधुनिक पूँजीवाद से तात्पर्य है :

- क) स्वयं की विलासता हेतु धन कमाना
- ख) मजदूरों का मालिकों द्वारा शोषण किया जाना
- ग) धन से धन अर्जित करने की प्रबल इच्छा
- घ) उपरोक्त सभी

(ii) किस क्रान्ति से यूरोपीय राष्ट्रों में पूँजीवाद फैला :

- क) हरित क्रान्ति
- ख) औद्योगिक क्रान्ति
- ग) फ्रांसीसी क्रान्ति
- घ) उपरोक्त सभी

(iii) पूँजीवाद के अंतर्गत महत्व दिया जाता है :

- क) व्यक्तिवाद

- ख) नये अविष्कार
- ग) लाभ कमाने की चेष्टा
- घ) उपरोक्त सभी

11.4.2 प्रोटेस्टेंट नैतिकता : पूँजीवाद के विकास को प्रभावित करने वाली विशेषताएँ

सबसे पहले आइए हम कुछ ऐतिहासिक जानकारी को स्पष्ट करें। प्रोटेस्टेंटवाद क्या है? जैसा कि इसके नाम से मालूम पड़ता है, यह विरोध का धर्म है। इसका 16वीं सदी में यूरोप में सुधारवाद के काल में प्रादुर्भाव हुआ।

इसके प्रवर्तक मार्टिन लूथर तथा जॉन कल्विन ने कैथोलिक चर्च के साथ संबंध विच्छेद कर लिया। उन्होंने अनुभव किया कि चर्च रूढ़ सिद्धांतों तथा अनुष्ठानों में उलझ गया था और इसका आम आदमी से संपर्क टूट गया था। लालच, भ्रष्टाचार तथा बुराइयों ने चर्च को जकड़ लिया था। पादरी लोग राजाओं जैसी जिंदगी जीने लगे थे। सम्पूर्ण यूरोप में उभरे प्रोटेस्टेंट पंथों ने चर्च की खोई हुई विचारधारा को पुनः स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होंने सादगी, सरलता तथा निष्ठा पर जोर दिया। फ्रांसीसी विद्वान जॉन कल्विन द्वारा स्थापित "कल्विनवाद" एक ऐसा ही पंथ था। इंग्लैंड में कल्विन के अनुयायियों को प्यूरिटन (Puritane) कहा जाता था। वे उत्तरी अमरीका में चले गए और उन्होंने अमरीकी राष्ट्र की नींव डाली।

वेबर के प्रेक्षण के अनुसार पश्चिम में अधिकांशतः इन प्रोटेस्टेंट मतानुयायियों ने ही शिक्षा तथा रोजगार के क्षेत्र में सबसे ज्यादा प्रगति की। वे नौकरशाही के उच्चस्थ पदों पर आसीन हो गए। वे सर्वाधिक कुशल तकनीकी कामगार तथा अग्रणी उद्योगपति बने। क्या उनके धर्म में ऐसी कोई बात थी जिससे प्रेरणा लेकर वे इतनी प्रगति कर सके? वेबर का कुछ ऐसा ही विचार था और उसने इसे सिद्ध करने का प्रयास भी किया। जिस प्रकार के पूँजीवाद में वेबर की सबसे ज्यादा रुचि थी वह कल्विनवाद ही था। इसकी मुख्य विशेषताओं की जाँच करने पर हमें पता चलेगा कि धर्म तथा अर्थव्यवस्था के बीच कितना गहरा संबंध है।

जैसा कि हमने पहले कहा है, धर्म तथा अर्थव्यवस्था या इस विशेष मामले में पूँजीवाद की प्रवृत्ति तथा कल्विनवाद के बीच संबंध दर्शाने के लिए हमें सबसे पहले कल्विनवाद की मुख्य विशेषताओं का विवेचन करना होगा। इसके पश्चात् इनके संबंधों पर चर्चा की जाएगी।

कल्विनवाद की मुख्य विशेषताएँ

i) कल्विन द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की छवि

कल्विन के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान, परमोत्कृष्ट है। उसकी दैवी इच्छा अज्ञेय होती है। ईश्वर की इच्छा को समझने की चेष्टा करना मनुष्य की मूर्खता होगी।

ii) नियति का सिद्धांत

कल्विनवाद का मूलाधार एक विश्वास है कि ईश्वर ने कुछ लोगों को स्वर्ग में प्रवेश के लिए चुन या निर्वाचित कर रखा है और शेष नरकभोगी होते हैं। चुने हुए लोग स्वर्ग अवश्य पहुँचेंगे फिर चाहे वे पृथ्वी पर कुछ भी करें। शेष जन साधारण स्वर्ग में स्थान पाने के लिए प्रार्थना या बलि देकर ईश्वर को लुभा नहीं सकते। इस इच्छा अज्ञेय होती है, अतः जनसाधारण इसे बदल नहीं सकते। इस कठोर धर्म के अनुयायी की असुरक्षा के बारे में कल्पना करके देखिए। वह नहीं जानता कि वह स्वर्ग के लिए चुना गया या नहीं। वह सांत्वना तथा सहायता के लिए किसी पादरी के पास नहीं जा सकता, क्योंकि वह जानता है कि कोई नश्वर प्राणी ईश्वर को समझ ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में अपने अनिश्चित भाग्य के बारे में अपनी चिंता को वह कैसे दूर करे? वह स्वयं को यह कैसे सिद्ध करके दिखाए कि वह चुने हुए कुछ में से एक है?

वह पृथ्वी पर समृद्ध बनकर ऐसा कर सकता है। उसकी भौतिक समृद्धि ही उसके चुनाव का प्रतीक या चिह्न होगी। वह ईश्वर की स्तुति के लिए कार्य कर सकता है।

iii) कल्विनवाद तथा इहलौकिक आत्म संयम

संयम से हमारा तात्पर्य आत्मानुशासन, नियंत्रण तथा इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर लेना होता है। वेबर ने प्रोटेस्टेंटवाद में और विशेष रूप से कल्विनवाद में इहलौकिक आत्म संयम बतारने की प्रवृत्ति पाई। इसके अंतर्गत वातावरण पर नियंत्रण करने के लिए कठोर आत्मानुशासन पर बल दिया गया। इसमें सुझाव दिया गया कि एक सरल तथा सादा जीवन बिताया जाए तथा कड़ी मेहनत की जाए। सांसारिक या इंद्रिय सुखों को जघन्य माना गया। उनके अनुसार अच्छे कपड़े पहना, नृत्य और संगीत, थियेटर तथा उपन्यास आदि शैतान की उपज है, क्योंकि वे व्यक्ति को ईश्वरीय आराधना के मार्ग से विमुख कर सकते हैं। यहाँ तक कि हँसने जैसी मानवीय अभिव्यक्ति पर भी अप्रसन्नता प्रकट की गई। कड़ी मेहनत पर केवल कल्विनवादी ही जोर नहीं देते थे, अपितु इस पर सभी प्रोटेस्टेंट पंथ भी बल देते थे। ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, यह विचार प्रारंभिक पूँजीवाद का एक सिद्धांत बन गया था। वेबर ने मैथोडिस्ट पंथ से कुछ उदाहरण दिए हैं, जिनके अनुसार उनके मतावलंबियों के लिए निम्नलिखित काम निषिद्ध बताए गए हैं :

- क) किसी वस्तु को बेचते या खरीदते समय मोल भाव करना।
- ख) आवश्यक कर तथा प्रशुल्क अदा किए बिना वस्तुओं का व्यापार करना।
- ग) देश के कानून द्वारा अनुमत ब्याज दर से अधिक ब्याज वसूल करना।
- घ) पृथ्वी पर खजाना इकट्ठा करना (अर्थात् निवेश पूँजी को "निधिक संपत्ति" के रूप में परिवर्तित करना।

ड) ऋण को वापिस करने की क्षमता सुनिश्चित किए बिना उधार लेना।

च) सभी प्रकार के भोग विलास (वेबर, 2008 : 91)।

कड़ी मेहनत के फल को सांसारिक सुखों पर खर्च नहीं किया जा सकता। इसलिए धन का केवल एक ही उपयोग है कि और अधिक धन कमाने के लिए उसका फिर से निवेश कर दिया जाए। एक क्षण भी व्यर्थ बरबाद न किया जाए, क्योंकि "कार्य ही साधना" है और "समय ही धन" है।

iv) ईश्वरीय आह्वाहन (Notion of 'Calling')

क्या कोई विश्वविद्यालय का विद्यार्थी सफाई मजदूर का काम स्वीकार करेगा? शायद नहीं। हममें से अधिकांश लोग सफाई मजदूर या कूड़ा इकट्ठा करने वाले के काम को बहुत छोटा या बहुत गंदा काम मानते हैं। इसके विपरीत कल्विनवाद की नैतिकता यह कहती है कि सभी काम महत्वपूर्ण तथा पवित्र होते हैं। यह केवल काम नहीं होता अपितु एक ईश्वरीय आह्वान या एक मिशन होता है और इसलिए इसे निष्ठा तथा लगन के साथ संपन्न करना चाहिए।

अब तक हमने देखा कि वेबर ने विश्व के प्रति अध्यात्मिक दृष्टिकोण और आर्थिक कार्यकलाप की एक निश्चित शैली के बीच घनिष्ठ संबंधों का किस प्रकार वर्णन किया है। यह संबंध कल्विन धर्म के अनुयायियों में विशेष रूप में दृष्टिगोचर होता है। वेबर ने निष्कर्ष के रूप में उनके बारे में पाँच बातें कही हैं :

क) उनके अनुसार एक परम श्रेष्ठ ईश्वर विद्यमान है जो सृष्टिकर्ता है और उसका शासक है लेकिन वह सीमित मानव मस्तिष्क के लिए अज्ञेय और अगम्य होता है।

ख) इस सर्वशक्तिमान और रहस्यमय ईश्वर ने हम सबकी मोक्ष या नरकवास के लिए नियति तय कर रखी है। इसलिए अपने कर्म से इस दैवी आदेश को बदला नहीं जा सकता, क्योंकि यह तो हमारे जन्म से पहले ही तय किया जा चुका होता है।

ग) ईश्वर ने अपने परमानंद के लिए ही इस विश्व की सृष्टि की है।

घ) चाहे उसे मोक्ष मिले या नरकवास, मनुष्य को ईश्वर के आनंद के लिए काम करना ही पड़ेगा और उसे पृथ्वी पर ईश्वर का साम्राज्य स्थापित करना होगा।

ड) भौतिक वस्तुएँ, मानव प्रकृति तथा हाडमाँस पाप और मृत्यु की व्यवस्था से संबंधित हैं और मोक्ष उसे दैवी कृपा से ही मिल सकता है (रेमण्ड एरो, 1967 : 221-222)।

इसकी वजह से ही एक अनुशासित तथा निष्ठावान श्रमबल निर्मित करने में सहायता मिली और इसके अभाव में पूँजीवाद का जन्म ही नहीं हो सकता था।

कड़ी मेहनत, बचत तथा पुनः निवेश और समृद्ध बनने की इच्छा का "पूँजीवाद की प्रवृत्ति" के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।

आइए अब उस संबंध पर विचार करें जो वेबर स्थापित करना चाहता था। विचार मानव आचरण पर हावी होते हैं या प्रभाव डालते हैं और मानव आचरण को उसके पीछे काम कर रहे विचारों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। दिन रात मेहनत करने के बाद भी उस श्रम के फल का उपभोग न करना हममें से कुछ लोगों को अविवेकपूर्ण लग सकता है। लेकिन यह हम नियति के सिद्धांत और ईश्वर द्वारा चुने जाने को सिद्ध करने के लिए समृद्ध होने की आवश्यकता को ध्यान में रखें तो यह तर्कहीन व्यवहार सार्थक हो जाएगा। जैसा हमने पहले कहा है कि धार्मिक विश्वास कर्म करने के लिए मार्ग निर्देश तय करते हैं, वे हमें एक विशेष ढंग से आचार करने के लिए प्रेरित करते हैं।

बोध प्रश्न 3

(i) मैक्स वेबर प्रोटेस्टेंट अनुयायियों तथा पूँजीवाद के बीच संबंध क्यों स्थापित करना चाहते थे? स्पष्ट कीजिए।

.....
.....

(ii) कैल्विनवादी किसी भी काम को छोटा क्यों नहीं मानते थे? स्पष्ट कीजिए।

.....
.....

11.5 धर्म के संबंध में वेबर का तुलनात्मक अध्ययन

धार्मिक नैतिकता तथा आर्थिक व्यवहार के बीच वेबर जो संबंध स्थापित करना चाहता था; उसके बारे में आपने अभी पढ़ा है। आइए अब हम देखें कि वेबर ने अपने इस विचार को विश्व के विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की सहायता से किस तरह प्रमाणित तथा सिद्ध करने की कोशिश की है। इस भाग में हमने प्राचीन चीन में कन्फ्यूशसवाद, प्राचीन भारत में हिन्दू धर्म तथा फिलिस्तीन (पश्चिम एशिया) में यहूदी धर्म के बारे में वेबर के अध्ययनों की व्याख्या की है।

11.5.1 चीन में कन्फ्यूशसवाद

प्राचीन चीन में एक सुविकसित अर्थव्यवस्था विद्यमान थी। उस समय व्यापार, वाणिज्य, वित्त-व्यवस्था तथा विनिर्माण कार्य काफी उन्नत थे। इन भौतिक परिस्थितियों की विद्यमानता के बावजूद वहाँ पश्चिम शैली का पूँजीवाद विकसित नहीं हो पाया। इसका कारण क्या था? वेबर के अनुसार कन्फ्यूशियस मत की नैतिकता ऐसा नहीं होने देती। कन्फ्यूशियस मत के विचारों को संक्षेप में इस तरह व्यक्त किया जा सकता है :

i) विश्व अर्थात् ब्रह्मांड की व्यवस्था में विश्वास।

- ii) मनुष्य का ध्येय प्रकृति तथा विश्व के साथ समरसता बनाए रखना होना चाहिए।
- iii) हमारा व्यवहार परंपरा द्वारा निदेशित हो। ज्ञान का स्रोत अतीत में ही पाया जाता है।
- iv) परिवार तथा वंश के साथ संबंधों तथा दायित्वों की कभी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

समरसता, परंपरावाद तथा पारिवारिक दायित्वों पर बल देना लाभ के लिए लाभ कमाने के अनथक प्रयास से बिल्कुल भिन्न विचार है। वास्तव में इसके अन्तर्गत पूँजीवाद की प्रवृत्ति को संभवतः गलत आचार माना जाता।

11.5.2 पश्चिम एशिया में यहूदी धर्म

यह धर्म यहूदी समुदाय का है जो मूल रूप से पश्चिम एशिया के फिलिस्तीन क्षेत्र के निवासी थे। यहूदी धर्म सबसे प्राचीन **एकेश्वरवादी** धर्म है और यह सर्वशक्तिमान तथा सर्वप्रभुत्वधारी एक ईश्वर में विश्वास करता है। यहूदियों का विश्वास है कि वे ईश्वर या "जाहवेह" के चुने हुए प्रतिनिधि हैं। उनके पैगम्बर ने उन्हें इस विश्वास के साथ संगठित किया कि वे ईश्वर के चुने हुए प्रतिनिधि हैं और उन्हीं पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करना है। कन्फ्यूशसवाद और हिंदू धर्म के विपरीत यहूदी धर्म पर्यावरण के साथ समरस होने की नहीं अपितु उस पर विजय प्राप्त करने की बात करता है।

वेबर का कहना है कि यहूदी धर्म पूँजीवाद की प्रवृत्ति पैदा कर सकता था। लेकिन कुछ ऐतिहासिक शक्तियों ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। अत्याचार के कारण उन्हें अपनी मातृभूमि से महानिष्क्रमण या सामूहिक प्रवास करना पड़ा और वे समूचे विश्व में तितर-बितर हो गए। उनकी आर्थिक प्रतिभागिता पैसा उधार देने तक सीमित हो गई और इस कार्य को उन्होंने सफलतापूर्वक संपन्न किया।

11.5.3 भारत में हिन्दू धर्म

भारत में धर्म के संबंध पर चर्चा करते समय वेबर ने हिन्दू धर्म की नैतिकता में तर्कसंगत पूँजीवाद के पनपने की संभावना को नकार दिया। उसके अनुसार भारत जैसे जाति प्रथा आधारित समाज में आधुनिक पूँजीवाद का संगठन बिल्कुल असंभव है और न ही पश्चिमी दुनिया में आयातित पूँजीवाद यहाँ फल-फूल सकता है।

चीन की तरह भारत भी आर्थिक दृष्टि से काफी उन्नत था। संभवतः आपको मालूम होगा कि प्राचीन भारत का विज्ञान के क्षेत्र में भी अमूल्य योगदान रहा है। विश्वव्यापी बाजार में यहाँ का विनिर्मित माल बिकता था और विश्व के विभिन्न भागों के साथ भारत के व्यापारिक संबंध स्थापित हो गये थे।

लेकिन वेबर का कहना है कि हिन्दू धर्म पूँजीवाद के विकास के लिए उपयुक्त नैतिकता प्रदान नहीं कर सका। कर्म, धर्म तथा पुनर्जन्म (जन्म तथा पुनर्जन्म का चक्र) के विचारों ने भारतीयों को निराशावादी एवं नियतिवादी बना दिया। आपने लोगों को यह कहते तो सुना ही होगा, “मुझे अपने पिछले जन्म के कर्मों का दण्ड मिल रहा है।” चूँकि वर्तमान स्थित पिछले कर्मों का परिणाम है अतः वेबर के विचार अनुसार हिंदू लोग अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए प्रेरित नहीं होते। वेबर का कहना है कि हिन्दू उस तरह की कड़ी मेहनत करना अभीष्ट नहीं समझते जो पूँजीवाद के लिए जरूरी है।

“मोक्ष या मुक्ति” के हिन्दू आदर्श के अनुसार हमारी आत्मा को मुक्ति तभी मिल सकती है जब हम सांसारिक इच्छाओं या “वासनाओं” का मोह त्याग दें। भौतिक संसार तो एक भ्रम या माया है। हमें सच्चा आनन्द तभी मिलेगा, जब हम “मायाजाल” से मुक्त हो जाएँ। हिन्दू धर्म “पारलौकिक संयम” का उपदेश देता है। भौतिक संसार को महत्वहीन माना है। भौतिक समृद्धि अस्थायी तथा भ्रमित करने वाली होती है, इसलिए उसको कोई महत्व नहीं दिया जाता है।

अनश्वर आत्मा का कल्याण ही ज्यादा महत्वपूर्ण है। वे धर्म जो पारलौकिक संयम पर जोर देते हैं और भौतिक संसार को हीन मानते हैं, पूँजीवाद का संवर्धन करने की अभिवृत्ति पैदा नहीं कर सकते।

अतः यह स्पष्ट है कि भौतिक स्थितियाँ जैसे वित्त, व्यापार तथा प्रौद्योगिकी ही पूँजीवाद के संवर्धन के लिए काफी नहीं हैं। भारत और चीन दोनों देशों में ये स्थितियाँ मौजूद थीं, लेकिन इन समाजों की मूल्य व्यवस्थाएँ ऐसी थी कि संपत्ति के लिए संपत्ति अर्जन करने की प्रकृति और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तार्किक संगठन बनाना दोनों का यहाँ कोई महत्व नहीं था। यह इन समाजों के आदर्शों और नैतिकताओं के अनुरूप नहीं थी।

11.6 वेबर के धर्म तथा अर्थव्यवस्था संबंधी अध्ययनों का

समालोचनात्मक मूल्यांकन

धर्म तथा आर्थिकी संबंधी वेबर के विचारों की अक्सर आलोचना की जाती रही है। कुछ विद्वान यह महसूस करते हैं कि वेबर ने धार्मिक नैतिकता के कुछ पहलुओं को अपनी इच्छानुसार चुनकर उन्हें बड़े संकीर्ण ढंग से इस तरह विवेचित कर दिया है कि वे उसके सिद्धांत के अनुरूप ठीक बैठक जाएँ।

उदाहरण के लिए, हिन्दू नैतिकता के अध्ययन में वेबर ने उसके केवल एक पहलू पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया और उसके नियतिवादी तथा निष्क्रिय पहलू को ही बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया। कुछ विद्वान और अध्येता यह तर्क देना चाहेंगे कि कर्म और धर्म की धारणाएँ वास्तव में तो व्यक्ति को कार्य करने, अपने कर्तव्यों का पालन करने और अपने दायित्वों को निभाने के लिए प्रेरित करती हैं।

यह उल्लेखनीय है कि व्यवसाय की अवधारणा जो पूँजीवाद की प्रवृत्ति की आधारशिला है, हिन्दू धर्म में भी प्रचलित है। फल की इच्छा लिए बिना अपने

कर्तव्य का पालन करने का भगवत गीता का सिद्धांत तथा व्यवसाय का सिद्धांत दोनों समान ही हैं। व्यवसाय का सिद्धांत पश्चिमी देशों में ही भौतिक प्रगति का केन्द्र बिन्दु है। मिल्टन सिंगर ने मद्रास शहर के कुछ अग्रणी उद्योगपतियों का अध्ययन किया था और इस अध्ययन में उसने प्रोटेस्टेंट नैतिकता की भारत में प्रकार्यात्मक समानता प्रस्तुत की है। उसके अनुसार जाति की पृष्ठभूमि तथा परंपरा भारत में औद्योगिक विकास में समान रूप से उपयुक्त बैठती है। जाति पर आधारित श्रम- विभाजन को औद्योगिक श्रमिकों की विशेषज्ञता के क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया है। सिंगर ने देखा कि "विभागीकरण" की प्रक्रिया के जरिये बहुत से उद्योगपतियों ने अपने व्यावसायिक दायित्वों तथा आनुष्ठानिक दायित्वों को अलग- अलग यानी बिल्कुल पृथक् विभागों में रखा। इसलिए एक ओर व्यक्ति की व्यवसायी के रूप में भूमिका और दूसरी ओर धार्मिक व्यक्ति के रूप में उसकी भूमिका के बीच कोई संघर्ष पैदा नहीं हुआ।

बोध प्रश्न 4

सही उत्तर बताइये-

- i) कन्फ्यूशियस मत के विचारों के अनुसार :
 - क) हमारा व्यवहार आधुनिकता द्वारा निर्देशित हो।
 - ख) पूँजीवाद की प्रवृत्ति का अनुसरण किया जाता है।
 - ग) परिवार तथा वंश के संबंधों का कम महत्व।
 - घ) मनुष्य का छयेय प्रकृति तथा विश्व के साथ समरसता बनाये रखना।
- ii) वेबर ने हिन्दू धर्म की नैतिकता में तर्कसंगत पूँजीवाद को नकारा है, क्योंकि :
 - क) भारत एक जाति प्रथा आधारित समाज है।
 - ख) भारत आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़ा था।
 - ग) प्राचीन भारत विज्ञान के क्षेत्र में निम्न श्रेणी का था।
 - घ) हिन्दू धर्म के लोग कर्म व पुर्नजन्म में विश्वास नहीं करते।

11.7 सारांश

इस इकाई में सबसे पहले हमने "धर्म" और अर्थ की अवधारणाओं को स्पष्ट किया। हमने वेबर द्वारा वर्णित इन दोनों अवधारणाओं के बीच संबंध को देखने का प्रयास किया। हमने पश्चिमी देशों में तार्किक पूँजीवाद के विकास के बारे में वेबर द्वारा प्रस्तुत तर्कों का विवेचन किया। हमने वेबर द्वारा प्रस्तुत उन तर्कों को भी देखा जिनके अनुसार चीन, पश्चिमी एशिया तथा भारत में पूँजीवाद क्यों नहीं विकसित हो पाया। अंत में, हमने भारतीय समाज के संदर्भ में वेबर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत की कुछ आलोचनाओं पर भी विचार किया।

11.8 संदर्भ सूची

1. ऐरो, रेमण्ड, 1967 : मेन करंट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट, वॉल्यूम-2, लन्दन, पेंगुइन बुक्स।
2. कोजर, एल.ए., 1977 : मास्टर्स ऑफ सोशियोलॉजिकल थॉट, न्यूयॉर्क, हरकोर्ट प्रेस जोवानोविच।
3. सिंगर, एम., 1969 : "मॉर्डनाइजेशन रिचुअल एण्ड विलीफ एमंग इंडस्ट्रियल लीडर्स इन मैड्रास सिटी", इन ए.के. सिंह (सम्पा.) मॉर्डनाइजेशन इन इंडिया स्टडीज इन सोशियो कल्चरल एस्पैक्ट्स, मुम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाऊस।
4. वेबर मैक्स, 2008 : प्रोटेस्टेंट आचारशास्त्र और पूँजीवादी चेतना, दिल्ली, ग्रंथ शिल्पी।
5. गिडेन्स, एंथनी, 2006 : पूँजीवाद और आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त, दिल्ली ग्रंथ शिल्पी।
6. श्रीवास्तव, सुरेन्द्र कुमार, समाज विज्ञान के मूल विचारक, लखनऊ, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी।
7. ESO-03, 1991 : समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, इन्दरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ।

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

- (i) धर्म शब्द से हमारा तात्पर्य "अलौकिक" शक्तियों के बारे में विचारों तथा विश्वासों के एक समुच्चय तथा उसके मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से है।
- (ii) वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन और उपभोग तथा वितरण से संबंधित प्रबंध।

बोध प्रश्न 2

- (i) ग
- (ii) ख
- (iii) घ

बोध प्रश्न 3

- (i) वेबर के प्रेक्षण के अनुसार पश्चिम में अधिकांशतः इन प्रोटेस्टेंट मतानुयायियों ने ही शिक्षा तथा रोजगार के क्षेत्र में सबसे ज्यादा प्रगति की। वे नौकरशाही के उच्चस्थ पदों पर आसीन हो गए। वे सर्वाधिक कुशल तकनीकी कामगार

तथा अग्रणी उद्योगपति बने। क्या उनके धर्म में ऐसी कोई बात थी जिससे प्रेरणा लेकर वे इतनी प्रगति कर सके? वेबर का कुछ ऐसा ही विचार था और उसने इसे सिद्ध करने का प्रयास भी किया।

- (ii) कल्बिनवादी कार्य को ईश्वरीय आह्वाहन मानते थे। कार्य पूर्ण निष्ठा तथा ईमानदारी से किया जाना चाहिए। कार्य के साथ "अन्तर्भूत पारिश्रमिक" होता है, कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए करना चाहिए। कार्य ही उपासना है अतः कोई भी काम छोटा या गंदा नहीं होता।

बोध प्रश्न 4

- (i) घ
(ii) क

इकाई 12 शक्ति , सत्ता और नौकरशाही (Power, Authority & Bureaucracy)

इकाई की रूपरेखा

- 12.0 उद्देश्य
- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 शक्ति और सत्ता की अवधारणाएँ
 - 12.2.1 शक्ति
 - 12.2.2 सत्ता
- 12.3 सामाजिक क्रिया के प्रकार तथा सत्ता के प्रकार
 - 12.3.1 सामाजिक क्रिया के प्रकार
 - 12.3.2 सत्ता के प्रकार
- 12.4 नौकरशाही
 - 12.4.1 नौकरशाही के मुख्य तत्व
 - 12.4.2 नौकरशाही की विशेषताएँ
- 12.5 सारांश
- 12.6 संदर्भ सूची
- 12.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- शक्ति और सत्ता की मैक्स वेबर द्वारा परिभाषित अवधारणाओं को समझना,
- वेबर के सामाजिक क्रिया के प्रकारों और सत्ता के प्रकारों के बीच संबंध को स्पष्ट करना,
- सत्ता के तीन प्रकारों पारंपरिक, करिश्माई और तर्क-विधिक की विस्तार से व्याख्या करना, और
- तर्क-विधिक सत्ता का प्रयोग नौकरशाही द्वारा किस तरह किया जाता है, उसकी विवेचना करना।

12.1 प्रस्तावना

इस इकाई में शक्ति और सत्ता को समझने में वेबर के महत्वपूर्ण योगदान पर प्रकाश डाला जाएगा। पहले भाग में हमने शक्ति और सत्ता की समाजशास्त्रीय अवधारणाओं का संक्षेप में विवेचन किया है जिसमें इन शब्दों के संबंध में वेबर की दृष्टि की विशेष चर्चा की गई है, दूसरे भाग में वेबर द्वारा बताए गए सामाजिक क्रिया के प्रकारों की चर्चा की गई है। सत्ता के प्रकारों मुख्यतः पारंपरिक, करिश्माई तथा तर्क विधिक सत्ता का उल्लेख किया गया है। तीसरे भाग में हमने

अपनी विवेचना और नौकरशाही पर केंद्रित की है जो तर्क विधिक सत्ता को प्रयोग में लाने का एक प्रमुख उदाहरण है।

12.2 शक्ति और सत्ता की अवधारणाएँ

आइए, हम इन मुख्य अवधारणाओं का व्यापक समाजशास्त्रीय दृष्टि तथा वेबर की विशिष्ट दृष्टि से विश्लेषण करें।

12.2.1 शक्ति

सामान्य प्रयोग में "शक्ति" शब्द का अर्थ है ताकत अथवा नियंत्रण की क्षमता। समाजशास्त्री इसकी परिभाषा एक व्यक्ति अथवा समूह की अपनी इच्छा पूर्ण करने तथा अपने निर्णयों एवं विचारों को कार्यान्वित करने के सामर्थ्य के रूप में करते हैं। इसमें दूसरों की इच्छा के विपरीत भी उन्हें प्रभावित करने अथवा उनके आचरण को नियंत्रित करने की क्षमता निहित है।

मैक्स वेबर के अनुसार, शक्ति सामाजिक संबंधों का एक पहलू है। इसका संबंध एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के आचरण पर अपनी इच्छा थोपने की संभावना से है। शक्ति का अस्तित्व सामाजिक अन्तर्क्रिया में है और यह असमानता की स्थितियाँ पैदा करती है क्योंकि जिसके हाथ में शक्ति है वह इसे दूसरों पर थोपता है। शक्ति का प्रभाव अलग-अलग स्थिति में अलग-अलग होता है। एक ओर यह प्रभाव शक्तिशाली व्यक्ति की क्षमता पर निर्भर करता है। वेबर की मान्यता है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में शक्ति का प्रयोग संभव है।

यह युद्ध क्षेत्र अथवा राजनीति तक ही सीमित नहीं है। इसे बाजार, भाषण मंच तथा किसी सामाजिक समारोह, खेल-कूद, वैज्ञानिक गोष्ठियों और यहाँ तक कि परोपकार की गतिविधियों में भी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए दान अथवा भिक्षा देना अपनी आर्थिक शक्ति प्रदर्शित करने का एक सूक्ष्म तरीका है। एक अमीर व्यक्ति अपनी आर्थिक शक्ति द्वारा भिखारी को कुछ देकर उसे खुश कर सकता है और इंकार करके उसे निराश भी कर सकता है।

शक्ति के स्रोत क्या हैं? वेबर ने शक्ति के दो परस्पर-विरोधी स्रोतों का उल्लेख किया है। ये इस प्रकार हैं :

- क)** वह शक्ति जो औपचारिक मुक्त बाजार में पनपने वाले हितों के मेल से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए चीनी उत्पादकों का एक समूह अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए अपने उत्पादन की सप्लाई को नियंत्रित करता है।
- ख)** सत्ता की एक स्थापित प्रणाली, जो आदेश देने के अधिकार तथा उसके पालन के कर्तव्य का निर्धारण करती है। उदाहरण के लिए सेना में एक जवान अपने अधिकारी का आदेश मानने को बाध्य है। अधिकारी को आदेश देने की शक्ति— सत्ता की स्थापित प्रणाली से मिली है।

जैसा कि आपने दूसरे विषय में देखा, शक्ति की चर्चा करते समय हमें उसकी वैधता पर विचार करना पड़ता है। वेबर के अनुसार, यही वैधता सत्ता का मूल पक्ष है। आइए अब हम सत्ता की अवधारणा पर विचार करें।

12.2.2 सत्ता

सत्ता के लिए वेबर द्वारा प्रयुक्त जर्मन शब्द "हैरशाफ्ट" (herrschaft) का अनुवाद कई रूपों में हुआ है। कुछ समाजशास्त्रियों ने इसे सत्ता (authority) कहा है, जबकि कुछ विद्वानों ने इसका अनुवाद "प्रभुत्व" (doination) अथवा "आदेश" (command) किया है। "हैरशाफ्ट" का अर्थ है, ऐसी स्थिति जिसमें "हैर" (herr) अथवा स्वामी अन्यो पर प्रभुत्व जमाता है अथवा हुक्म चलाता है। रेमों आरों के अनुसार, हैरशाफ्ट की परिभाषा स्वामी की वह क्षमता, जिससे वह उन लोगों से आज्ञापालन करवाता है जो सैद्धांतिक रूप से उसके प्रति आज्ञाकारी हैं (ऐरो, 1967 : 187)। इस इकाई में हमने वेबर की "हैरशाफ्ट" की अवधारणा को सत्ता (authority) शब्द द्वारा व्यक्त किया है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि शक्ति (power) और सत्ता (authority) में क्या अंतर है। जैसा कि आपने पढ़ा, शक्ति का अर्थ है किसी अन्य को नियंत्रित करने की योग्यता अथवा क्षमता। सत्ता से अभिप्राय है—वैध शक्ति। इसका अर्थ है कि स्वामी को समादेश देने का अधिकार है और वह उसके अनुपालन की अपेक्षा कर सकता है।

आइए, अब हम उन तत्वों का विवेचन करें, जो सत्ता को निरूपित करते हैं।

बोध प्रश्न 1

(i) शक्ति की परिभाषा दीजिए।

.....

(ii) सत्ता का अर्थ बताइये।

.....

12.3 सामाजिक क्रिया के प्रकार तथा सत्ता के प्रकार

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को सामाजिक क्रिया का व्यापक विज्ञान बताया है (ऐरो, 1967 : 187)। वेबर ने सामाजिक क्रिया का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, उसकी हमने संक्षेप में विवेचना की है।

12.3.1 सामाजिक क्रिया के प्रकार

वेबर ने सामाजिक क्रिया के चार प्रमुख प्रकार बताए हैं। ये हैं :

- i) किसी लक्ष्य के संदर्भ में तार्किक क्रिया अथवा स्वैकरैशनल (zweckrational) क्रिया : इसका एक उदाहरण है पुल का निर्माण कर रहा एक इंजीनियर। वह अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कुछ सामग्री को किसी खास तरीके से इस्तेमाल करता है। उसकी गतिविधियाँ अपने लक्ष्य यानि निर्माण को पूरा करने की दिशा में संचालित होती हैं।
- ii) किसी मूल्य के संदर्भ में तार्किक क्रिया अथवा वैटरैशनल (wertrational) क्रिया : इस क्रिया में अपने देश के लिए अपने प्रमाण न्यौछावर करने वाले सैनिक का उदाहरण दिया जा सकता है। उसकी क्रिया धन-दौलत की प्राप्ति जैसे किसी भौतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि गौरव और देश-भक्ति जैसे विशिष्ट मूल्यों के लिए है।
- iii) भावात्मक क्रिया : इस प्रकार की क्रिया व्यक्ति की भावात्मक स्थिति के फलस्वरूप होती है। जैसे कि बस में यदि कोई व्यक्ति किसी लड़की से छेड़खानी करता है तो वह लड़की नाराज होकर उसको थप्पड़ मार देती है।
- iv) परम्परागत क्रिया : यह क्रिया उन परम्पराओं और विश्वासों से प्रेरित होती है, जो हमारे स्वभाव का अंग बन गए हैं। परम्परागत भारतीय समाज में बड़ों को प्रणाम अथवा नमस्कार करना एक तरह से स्वभाव का अंग है और सहज ही ऐसा हो जाता है।

यह देखा जा सकता है कि सामाजिक क्रिया के उपर्युक्त वर्गीकरण की झलक वेबर की सत्ता की अवधारणा के वर्गीकरण में भी मिलती है। इसकी चर्चा हमने अगले उपभाग में की है।

12.3.2 सत्ता के प्रकार

वेबर के अनुसार वैधता की तीन प्रणालियाँ हैं, और इनमें से प्रत्येक के अनुरूप नियम हैं, जो आदेश देने की शक्ति को औचित्य प्रदान करते हैं। वैधता की इन्हीं तीन प्रणालियों को सत्ता के प्रकारों का नाम दिया गया है। ये हैं :

- i) पारम्परिक सत्ता
- ii) करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता
- iii) तर्क-विधिक सत्ता

आइए, अब हम तीनों प्रकारों का विस्तार से विवेचन करें।

i) पारम्परिक सत्ता

वैधता की यह प्रणाली पारम्परिक सामाजिक क्रिया से निरूपित होती है। दूसरे शब्दों में यह व्यावहारिक कानून पर तथा प्राचीन परम्पराओं की मान्यता पर आधारित है। इसका आधार यह विश्वास है कि किसी विशेष सत्ता का सम्मान किया जाना चाहिए क्योंकि वह युग-युगान्तरों से चली आ रही है।

पारंपरिक सत्ता के अंतर्गत शासक पीढ़ी दर पीढ़ी मिली प्रस्थिति के कारण व्यक्तिगत सत्ता का उपभोग करते हैं। उनके आदेश रीति-रिवाजों के अनुरूप होते हैं और उन्हें शासित लोगों से अपना आदेश मनवाने का भी अधिकार होता है। प्रायः वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। जो लोग उनके आदेशों का पालन करते हैं, वे उनकी प्रजा कहलाते हैं। यह प्रजा व्यक्तिगत निष्ठा के कारण अथवा प्राचीन कला से मान्यता प्राप्त पद के प्रति पवित्र सम्मान के कारण अपने स्वामी के आदेशों का पालन करती है। आइए, अब हम इस संबंध में अपने समाज का ही एक उदाहरण लें। आप भारत में प्रचलित जाति-प्रथा से भली-भांति परिचित हैं। “निम्न” जातियाँ सदियों तक “उच्च” जातियों के अत्याचार क्यों सहती रहीं? इसका एक स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि “उच्च” जातियों की सत्ता को परम्पराओं तथा प्राचीन मान्यताओं का समर्थन प्राप्त था। कुछ लोगों का कहना है कि “निम्न” जातियों ने अपने दमन को सामाजिक स्वीकृति दे दी थी। इस प्रकार यह देखा जाता है कि पारंपरिक सत्ता प्राचीन परम्पराओं को पवित्र मानने के विश्वास पर आधारित है। इससे सत्ता का इस्तेमाल करने वालों को वैधता प्राप्त हो जाती है।

पारंपरिक सत्ता का संचालन लिखित-नियमों और विधानों के अंतर्गत नहीं होता। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत में मिलता है। पारंपरिक सत्ता का कार्यान्वयन सगे-संबन्धियों तथा समर्थकों के बल पर किया जाता है।

आधुनिक युग में पारंपरिक सत्ता में क्षीणता आई है। पारंपरिक सत्ता का सर्वाधिक सशक्त उदाहरण राजतंत्र (monarchy) अभी प्रचलित है, किन्तु उसका स्वरूप अब काफी दुर्बल हो चुका है। इंग्लैंड की महारानी पारंपरिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु जैसा कि आपको मालूम होगा वह अपनी सत्ता का वास्तविक प्रयोग नहीं करती। इंग्लैंड के कानून महारानी के नाम पर लागू किए जाते हैं किन्तु इन कानूनों का निर्माण जनता के प्रतिनिधि अर्थात् संसद सदस्य करते हैं। महारानी के अधीन संसद है, जो देश का शासन चलाती है, किन्तु वह मंत्रियों की नियुक्ति नहीं करती। वह नाम मात्र की राज्याध्यक्ष है।

संक्षेप में, पारंपरिक सत्ता को वैधता प्राचीन परम्पराओं से प्राप्त होती है, जो कुछ लोगों को आदेश देने की क्षमता प्रदान करती है तथा अन्य लोगों को उनका पालन करने को बाध्य करती है। यह सत्ता विरासत में मिलती है और इसके लिए लिखित विधानों की आवश्यकता नहीं होती। शासक अपनी सत्ता का इस्तेमाल अपने समर्थक संबंधियों एवं मित्रों की सहायता से करते हैं। वेबर ने इस प्रकार की सत्ता को तर्कहीन माना है। इसलिए आधुनिक विकसित समाज में यह सत्ता बहुत कम पाई जाती है।

ii) करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता

करिश्मा अथवा चमत्कार का अर्थ है कुछ व्यक्तियों के असाधारण गुण। ऐसे गुण से इन व्यक्तियों में सामान्य लोगों की निष्ठा तथा भावनाओं पर अधिकार कर लेने की क्षमता आ जाती है। करिश्माई सत्ता किसी व्यक्ति के प्रति असाधारण आस्था

और उस व्यक्ति द्वारा बताई गई जीवन-शैली पर आधारित होती है। ऐसी सत्ता की वैधता व्यक्ति की अलौकिक अथवा मायावी शक्ति में निहित होती है। ऐसे नेता चमत्कारों, सैनिक या अन्य प्रकार की विजयों अथवा अपने अनुयायियों की आकस्मिक समृद्धि के माध्यम से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। जब तक ये करिश्माई नेता अपने अनुयायियों अथवा समर्थकों की नज़र में अपनी चमत्कारिक शक्तियों को सिद्ध करते रहते हैं, तब तक उनकी सत्ता बराबर बनी रहती है। आपने महसूस किया होगा कि करिश्माई सत्ता से जो सामाजिक क्रिया जुड़ी है, वह भावात्मक क्रिया है। करिश्माई नेताओं के प्रवचनों तथा उपदेशों के प्रभाव से समर्थक अत्यन्त भावुक हो जाते हैं। यहाँ तक कि वे अपने नेता की पूजा तक करते हैं।

करिश्माई सत्ता परंपरागत विश्वासों अथवा लिखित नियमों पर आधारित नहीं होती। यह अपनी विशेष क्षमता के बल पर शासन करने वाले नेता के विशेष गुणों का ही परिणाम होती है। करिश्माई सत्ता संगठित नहीं होती, अतः इसमें कर्मचारियों अथवा प्रशासनिक तंत्र की आवश्यकता नहीं होती। नेता और उसके सहयोगियों का अपना कोई निश्चित व्यवसाय नहीं होता और वे प्रायः पारिवारिक दायित्वों से विमुक्त रहते हैं। ये गुण कभी-कभी चमत्कारिक व्यक्तियों को क्रांतिकारी भी बना देते हैं, क्योंकि वे सभी पराम्परागत सामाजिक प्रतिमानों तथा दायित्वों को अस्वीकार कर चुके होते हैं।

व्यक्तिगत गुणों पर आधारित होने के कारण सम्बद्ध नेता की मृत्यु अथवा उसके लापता होने की स्थिति में उत्तराधिकार की समस्या पैदा होती है। जो व्यक्ति नेता का स्थान लेता है, संभव है उसमें वैसी चमत्कारिक शक्ति न हो। ऐसी स्थिति में नेता का मूल संदेश लोगों तक पहुँचाने के लिए जब किसी प्रकार का संगठन विकसित होता है तब मूल करिश्माई सत्ता या तो पारंपरिक सत्ता या तर्क-विधिक सत्ता का रूप ग्रहण कर लेती है। वेबर के अनुसार यह करिश्मा अथवा **चमत्कार का सामान्यीकरण** है।

यदि चमत्कारिक नेता का पुत्र, पुत्री अथवा कोई निकट संबंधी उसका उत्तराधिकारी बनता है तब पारंपरिक सत्ता का अस्तित्व बना रहता है। किन्तु यदि चमत्कारिक गुणों का स्पष्ट उल्लेख होता है या वे लिखित रूप में मौजूद होते हैं तो वह तर्क-विधिक सत्ता के रूप में बदल जाती है जिसके अंतर्गत इन गुणों से सम्पन्न कोई भी व्यक्ति नेता बना सकता है। इस प्रकार करिश्माई सत्ता को अस्थिर एवं अस्थायी माना जा सकता है। हमारे समाज में करिश्माई नेताओं के उदाहरण समूचे इतिहास में मौजूद रहे हैं। सन्त, पैगम्बर तथा कुछ राजनेता ऐसी ही सत्ता के उदाहरण हैं उदाहरणतः कबीर, नानक, ईसा मसीह, मोहम्मद पैगम्बर, लेनिन और महात्मा गाँधी आदि। लोग उनका सम्मान पारंपरिक सत्ता या तर्क-विधिक सत्ता के कारण नहीं बल्कि उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं तथा उनके द्वारा दिए गए संदेश और उपदेश के कारण करते थे। आइए अब हम मैक्स वेबर द्वारा बताए गए सत्ता के तीसरे प्रकार की व्याख्या करें।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर बनाइए

- i) वेबर के अनुसार निम्नलिखित में से कौन सा सत्ता का प्रकार नहीं है :
- क) पारंपरिक सत्ता
 - ख) तर्क-विधिक सत्ता
 - ग) करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता
 - घ) व्यक्तिगत सत्ता
- ii) जब किसी नेता की मूल करिश्माई अथवा चमत्कारिक क्षमता पारंपरिक अथवा तर्क-विधिक सत्ता में बदल जाती है तो वेबर के अनुसार यह स्थिति है :
- क) करिश्मा अथवा चमत्कार का सामान्यीकरण
 - ख) सत्ता का सामान्यीकरण
 - ग) नेतृत्व का सामान्यीकरण
 - घ) शक्ति का सामान्यीकरण
- iii) पारंपरिक सत्ता को किसके द्वारा वैधता मिलती है :
- क) देश का कानून
 - ख) प्राचीन परंपराएँ
 - ग) नेता की श्रेष्ठ उपलब्धियाँ
 - घ) उपर्युक्त सभी।

iii) तर्क-विधिक सत्ता

यह शब्द सत्ता की उस प्रणाली का बोध कराता है, जो तार्किक भी है तथा कानूनी भी। यह सत्ता नियमित कर्मचारी वर्ग में निहित है, जो कुछ लिखित कानूनों एवं नियमों के अंतर्गत काम करते हैं। जो लोग इस सत्ता का प्रयोग करते हैं, उन्हें इसी काम के लिए नियुक्त किया जाता है और ये नियुक्ति उनकी योग्यताओं के आधार पर की जाती है। ये योग्यताएँ निर्धारित तथा संहिताबद्ध होती हैं। जिनके पास यह सत्ता होती है, उनका यह व्यवसाय होता है तथा वे इसके लिए वेतन पाते हैं। इस प्रकार यह एक **तार्किक** प्रणाली है।

यह वैधानिक इसलिए है क्योंकि यह देश के कानून के अनुरूप है जिसे लोग मान्यता देते हैं और उसका पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं। लोग आदेशों और नियमों तथा उन नियमों को कार्यान्वित करने वालों की स्थिति तथा पद दोनों की वैधता को स्वीकार करते हैं एवं उसका सम्मान करते हैं।

तर्क-विधिक सत्ता आधुनिक समाज का विशिष्ट पहलू है। यह तार्किकता की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। हमें याद रखना चाहिए कि वेबर ने तार्किकता को पश्चिमी सभ्यता की मुख्य विशेषता माना है। वेबर के अनुसार यह मानव चिंतन तथा विचार -विमर्श की विशेष देन है। अब तक आपने तर्क-विधिक सत्ता तथा

लक्ष्य प्राप्त करने के लिये तार्किक क्रिया के परस्पर संबंध को भली प्रकार समझ लिया होगा।

आइए, अब हम तर्क-विधिक सत्ता के उदाहरणों को देखें। सभी लोग कर समाहर्ता (tax-collector) की आज्ञा मानते हैं क्योंकि उसके द्वारा जारी किए जाने वाले आदेश की वैधता में सब को विश्वास है। यह भी मान्य है कि उसे लोगों को कर संबंधी नोटिस भेजने का कानूनी अधिकार है। जब ट्रैफिक पुलिस वाला लोगों को गाड़ी रोकने का इशारा करता है तो वे अपना वाहन इसीलिए रोक देते हैं क्योंकि वे कानून द्वारा उसे दिए गए अधिकार का सम्मान करते हैं। आधुनिक समाज में व्यक्ति का नहीं, बल्कि कानूनों एवं अध्यादेशों का शासन चलता है। लोग पुलिस मैन का कहना उसके पद और वर्दी के कारण मानते हैं, जो कानून का प्रतिनिधित्व करती है। वे उसका कहना इसलिए नहीं मानते कि वह श्रीमान "क" अथवा "ख" नाम का व्यक्ति है। तर्क-विधिक सत्ता केवल राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में नहीं, बल्कि बैंक, उद्योग आदि आर्थिक क्षेत्रों तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक संगठनों में भी चलती है।

सामाजिक क्रिया तथा सत्ता के प्रकारों के बारे में उपर्युक्त चर्चा के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि पारंपरिक सत्ता का संबंध परम्परागत क्रिया से, तर्क-विधिक का संबंध लक्ष्य के संदर्भ में तार्किक क्रिया से और करिश्माई सत्ता का संबंध भावात्मक क्रिया से है। परन्तु एक बात साफ नज़र आती है कि वेबर ने सामाजिक क्रिया के चार प्रकार और सत्ता के केवल तीन प्रकार बताए हैं। सामाजिक क्रिया और सत्ता के वर्गीकरण में यह अंतर चर्चा का विषय हो सकता है।

तर्क-विधिक सत्ता के संचालन के ढंग को अच्छी तरह से समझने के लिए "नौकरशाही" का विवेचन करना आवश्यक है। नौकरशाही के माध्यम से ही तर्क-विधिक सत्ता को कार्यान्वित किया जाता है। अगले भाग में इसी विषय की विवेचना की गई है।

12.4 नौकरशाही

जैसे कि ऊपर बताया गया है, नौकरशाही वह तंत्र है जो तर्क-विधिक सत्ता को लागू करता है। मैक्स वेबर ने नौकरशाही का विस्तृत विवेचन किया है और एक आदर्श प्रारूप की परिकल्पना प्रस्तुत की है, जिसमें नौकरशाही की सभी विशेषताएँ समाहित हैं। आइए, अब हम इसी आदर्श प्रारूप की व्याख्या करें, जिससे नौकरशाही के प्रमुख पहलुओं की जानकारी प्राप्त होगी।

12.4.1 नौकरशाही के मुख्य तत्व

- i) नौकरशाही का संचालन अधिकार क्षेत्रों के सिद्धान्त पर होता है, जो कुछ कानूनों अथवा प्रशासनिक नियमों पर आधारित होते हैं। ये हैं :

- क) अधिकारी वर्ग में नौकरशाही की गतिविधियों का बँटवारा सरकारी कर्तव्य के रूप में किया जाता है।
- ख) एक स्थायी अथवा नियमित प्रणाली होती है, जिसके अंतर्गत अधिकारी में सत्ता निहित होती है। यह सत्ता देश के कानूनों के अधीन होती है।
- ग) कठोर एवं विधिवत कार्यप्रणाली होती है, ताकि अधिकारी वर्ग अपना कर्तव्य उचित रूप में निभाते रहें।

इन तीन लक्षणों के मूल से "नौकरशाही सत्ता" की रचना होती है, जो आधुनिक विकसित समाजों में विद्यमान है।

- ii) नौकरशाही का दूसरा लक्षण है सत्ता सम्पन्न अधिकारियों का **पदक्रम**। इससे तात्पर्य यह है कि उच्च तथा निम्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों का एक निश्चित ढाँचा होता है। निचले पदों पर काम करने वाले कर्मचारी उच्च अधिकारियों के निर्देशन में काम करते हैं और उनके प्रति जवाबदेह रहते हैं। इस तंत्र का एक लाभ यह है कि शासित लोग निचले अधिकारियों के प्रति अपने असंतोष की अभिव्यक्ति उच्च अधिकारियों से अपील के रूप में कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि आप किसी कार्यालय के क्लर्क अथवा अनुभाग अधिकारी के आचरण से असंतुष्ट हैं तो आप अपनी शिकायत उच्च अधिकारी तक पहुँचा सकते हैं।
- iii) नौकरशाही कार्यालय का प्रबंध लिखित दस्तावेजों या फाइलों के द्वारा चलता है। ये दस्तावेज उन कर्मचारियों द्वारा सुरक्षित तथा सही ढंग से रखे जाते हैं, जो इसी काम के लिए नियुक्त किए जाते हैं।
- iv) नौकरशाही कार्यालयों का काम विशिष्ट प्रकार का होता है और इसके लिए कर्मचारियों को समुचित प्रशिक्षण दिया जाता है।
- v) पूर्ण विकसित नौकरशाही कार्यालय के संचालन के लिए कर्मचारियों को पूरी दक्षता से काम करना होता है। ऐसी स्थिति में कर्मचारियों को निर्धारित कार्य- समय से अधिक समय तक भी काम करना पड़ सकता है।

नौकरशाही तंत्र के मुख्य लक्षणों का अध्ययन करने के बाद आइए, अब हम इसमें पाए जाने वाले कर्मचारी वर्ग के संबंध में कुछ अध्ययन करें।

12.4.2 नौकरशाही की विशेषताएँ

आधुनिक नौकरशाही में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

- (1) **नियमों का महत्व**— नौकरशाही में पदाधिकारियों के कार्य नियमों द्वारा होते हैं तथा ये नियम अव्यक्तिगत होते हैं। इन नियमों में स्थायित्व तथा निरन्तरता पाई जाती है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि नौकरशाही में विभिन्न पदाधिकारियों के कार्य नियमों द्वारा स्पष्ट रूप से परिभाषित होते हैं तथा कार्यों में स्पष्ट विभाजन पाया जाता है। नौकरशाही को एक ऐसा संगठन कहा जा सकता है जिसमें व्यक्तियों की अपेक्षा पदों

- से जुड़े नियमों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इन नियमों का पालन सभी अधिकारी समान रूप से करते हैं जिसके कारण इस संगठन में स्थायित्व बना रहता है।
- (2) **स्पष्ट एवं निश्चित कार्य-क्षेत्र**— नौकरशाही में प्रत्येक अधिकारी की सत्ता तथा दायित्व का क्षेत्र सीमित होता है। वास्तव में, नौकरशाही में कार्य-कुशलता तथा दक्षता के आधार पर श्रम-विभाजन पाया जाता है जिसमें प्रत्येक सदस्य का कार्य-क्षेत्र पूर्णतः स्पष्ट रूप से परिभाषित होता है। नौकरशाही में अधिकारियों की भर्ती प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर होती है।
- (3) **पदों में संस्तरण**— नौकरशाही को कार्यों का स्तरीकृत संगठन कहा जा सकता है अर्थात् इसमें विभिन्न पद उच्चता तथा निम्नता के क्रम में संगठित रहते हैं परन्तु निम्नता से उच्चता की ओर अपील करने की छूट होती है। यदि किसी अधिकारी को किसी तरह की शिकायत करनी है तो वह अपने से उच्च अधिकारी से कर सकता है। पदों में संस्तरण होने के बावजूद ये पद एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए होते हैं तथा इनमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है।
- (4) **तकनीकी नियमों अथवा आदर्श प्रतिमानों के आधार पर अधिकारियों के व्यवहार पर नियन्त्रण**— नौकरशाही में सभी अधिकारियों के पदों के कार्य तकनीकी नियमों द्वारा नियन्त्रित होते हैं अर्थात् कोई भी अधिकारी मनमाना व्यवहार नहीं कर सकता, अपितु उसे नियमों के अनुसार ही कार्य करना पड़ता है। नौकरशाही में उच्च पदों पर नियुक्त अधिकारियों में अपने से निम्न पदों पर कार्य कर रहे अधिकारियों के कामों की देख-रेख का अधिकार होता है तथा यदि अनिवार्य हो तो वह ऐसा अनुशासन समिति द्वारा कर सकते हैं।
- (5) **प्रशासनिक पदाधिकारियों का उत्पादन के साधनों में स्वामित्व से पूर्ण पृथक्करण**— प्रशासनिक पदाधिकारी ही उत्पादन के साधनों अथवा प्रशासनिक साधनों पर एकाधिकार नहीं रखते अपितु इसमें अन्तर होता है। यदि ऐसा नहीं है तो नौकरशाही में तार्किकता तथा निष्पक्षता पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं की जा सकती।
- (6) **बाहरी अंकुश की कमी**— नौकरशाही संगठन बाहरी दबावों तथा अंकुश से मुक्त होना चाहिए ताकि नियमों के अनुसार निष्पक्ष रूप से सभी पदाधिकारी अपनी सीमाओं के अन्दर कार्य कर सकें। यदि बाहरी अंकुश होगा तो सही निर्णय लेने की प्रक्रिया प्रभावित हो सकती है।
- (7) **पदों के एकाधिकार का अभाव**— नौकरशाही में पदों पर किसी एक व्यक्ति का एकाधिकार नहीं होना चाहिए तथा संगठन को आवश्यकतानुसार अधिकारियों को स्थानान्तरित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। नियमों का

पालन न करने पर पद की अवनति तथा क्षमतापूर्वक कार्य करने पर पदोन्नति की भी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे एकाधिकार समाप्त हो जाए।

- (8) **नियमों, आदेशों तथा निर्णयों का लिखित रूप**—नौकरशाही के सभी नियम, आदेश तथा निर्णय लिखित होते हैं तथा किसी भी प्रकार के मौखिक आदेश इत्यादि नहीं होते। हर निर्णय को तथा आदेश को लिखित रूप में बताया जाता है तथा इनका रिकार्ड रखा जाता है। यह व्यवस्था प्रशासनिक कार्यवाही को सुचारु रूप से चलाने तथा पक्षपातरहित बनाने के लिए होती है। इसी विशेषता के आधार पर कुछ लोगों ने नौकरशाही संगठन को लाल फीताशाही प्रवृत्ति को जन्म देने वाला संगठन भी कहा है।
- (9) **पदों पर नियुक्ति**—पदों पर नियुक्ति या तो प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर या विशेष योग्यता वाले डिप्लोमा, डिग्री या प्रमाणा-पत्र के आधार पर की जाती है।
- (10) **वेतन, पदोन्नति आदि की स्पष्टता**—पदाधिकारी अपने काम के एवज में निश्चित वेतन पाते हैं। पद-संस्तरण की भाँति वेतन-क्रम भी संस्तरण में होता है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त नौकरशाही की कुछ और विशेषताएँ भी हैं; जैसे—अधिकारियों का अपने कार्य पालन की स्थिति में उत्पन्न कठिनाइयों में उचित रूप से संरक्षण, अधिकारियों के वेतन के रूप में निश्चित पुरस्कार तथा पद समाप्ति के पश्चात् पेन्शन इत्यादि।

वेबर का कहना है कि इन विशेषताओं के आधार पर नौकरशाही आधुनिक समाज के बड़े प्रशासनिक संगठन के तार्किक तथा कुशल अभिकरण के रूप में कार्य करती है। वेबर इस बात पर बल देते हैं कि नौकरशाही के संगठन में एक नियमित, अनुशासित तथा कुशल व्यवस्था पाई जाती है।

बोध प्रश्न 3

- (i) नौकरशाही में कौन सी सत्ता लागू होती है ।

.....

.....

- (ii) नौकरशाही की तीन महत्वपूर्ण विशेषताओं को बताइये।

.....

.....

12.5 सारांश

इस इकाई के प्रारंभ में हमने "शक्ति" और "सत्ता" के बारे में वेबर की अवधारणाओं पर चर्चा की। इसके बाद वेबर द्वारा बताए गए सामाजिक क्रिया के प्रकारों तथा सत्ता के प्रकारों का विवेचन किया गया। हमने पारंपरिक, करिश्माई

अथवा चमत्कारिक एवं तर्क-विधिक सत्ता का अध्ययन किया। अंत में हमने उस तंत्र अर्थात् नौकरशाही के पहलुओं पर ध्यान दिया, जिसके माध्यम से तर्क-विधिक सत्ता का संचालन होता है। हमने नौकरशाही में अधिकारी वर्ग की विशेषताओं का भी अध्ययन किया।

12.6 संदर्भ सूची

1. ऐरो, रेमण्ड, 1967 : मेन करंटस इन सोशियोलोजिकल थॉट, वाल्यूम-2, लन्दन, पेंगुइन बुक्स।
2. बेन्डिक्स, रैनहार्ड, 1966 : मैक्स वेबर; एन इंटलैक्चुअल पोर्ट्रेट, लन्दन, हाइनमन।
3. फ्राएंड, जूनियन, 1968 : द सोशियोलॉजी ऑफ मैक्स वेबर, न्यूयार्क, रैंडम हाउस।
4. गिडेन्स, एंथनी, 2006 : पूँजीवाद और आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त, दिल्ली, ग्रंथ शिल्पी।
5. ESO-03, 1991 : सामाजशास्त्रीय सिद्धान्त, इन्दरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ।

12.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

- (i) शक्ति सामाजिक संबंधों का एक पहलू है। इसका संबंध एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के आचरण पर अपनी इच्छा थोपने की संभावना से है।
- (ii) सत्ता का अर्थ है, ऐसी स्थिति जिसमें "हैर" (herr) अथवा स्वामी अन्यों पर प्रभुत्व जमाता है अथवा हुकम चलाता है।

बोध प्रश्न 2

- (i) घ
- (ii) क
- (iii) ख

बोध प्रश्न 3

- (i) तर्क विधिक सत्ता
- (ii) नियमों का महत्व, स्पष्ट एवं निश्चित कार्य-क्षेत्र तथा पदों का संस्तरण।

इकाई 13 :पैरेटो विलफ्रेड : अभिजन का परिभ्रमण

ईकाई की रूपरेखा:

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 पैरेटो का समाजशास्त्र में योगदान
- 13.3 चक्रीय सिद्धान्त या अभिभ्रमण
- 13.4 सारांश
- 13.5 संदर्भ सूची
- 13.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा.

- पैरेटो का समाजशास्त्र में योगदान व चक्रीय सिद्धान्त या अभिभ्रमण को भी समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक रूप प्रदान करने में पैरेटो का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। इसलिए पैरेटो को समाजशास्त्र के प्रवर्तकों में से एक अग्रणी सामाजिक विचारक के रूप में पहचाना जाता है। पैरेटो का जन्म ईटली में हुआ था। मूलतः वह गणितज्ञ और अर्थशास्त्री थे। समाजशास्त्र को सही तरह और सुनोयोजित रूप से परिभाषित करने का कार्य किया। उन्होंने समाजशास्त्र को एक तार्किक – प्रयोगात्मक विज्ञान के रूप में पहचान दिलायी। जिसका अर्थ यह कि यह समाज विज्ञान प्रयोग में लाया जा सकता है। इसकी प्रकृति आनुभाविक है लेकिन यह आनुभाविकता तर्कपारक है।

13.2 पैरेटो का समाजशास्त्र में योगदान



पैरेटो का जन्म 15 जुलाई सन् 1848 में पेरिस में हुआ। उनके पिता जनेवा से निकाल दिया गया था तथा वह पेरिस में आकर रहने लगे थे। पैरेटो की माता जी फ्रेंच थी। पैरेटो के पिता का नाम मैजिनी था। वह मानवतावादी और आषावादी थे किन्तु उनको अपने विचारों पर सफलता प्राप्त न हो सकी। इसी वजह से उन्हें पेरिस में जा कर रहना पडा। इसी दौरान उनकी पत्नी ने पैरेटो को जन्म दिया। किन्तु पैरेटो की 10 साल की अवस्था में उनका

परिवार फिर इटली वापस लौट आया और वही पर परेटो की शिक्षा पूरी हुई। परेटो का परिवार इटली में सन् 1893 तक रहा। फिर उनका परिवार फ्लोरेन्स छोड़कर स्विट्जरलैंड चले गए। परेटो की शिक्षा-दिक्षा पहले तो ट्यूरिन विश्वविद्यालय के इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी तथा बाद कि शिक्षा पॉलीटेक्नीकल स्कूल में हुई थी। यहाँ पर उन्होंने भौतिकशास्त्र तथा इंजीनियर बनना था। उस अवस्था में परेटो ने धैर्य अपने में भी कभी यह न सोचा था कि एक ऐसा समय भी आएगा जबकि उनका नाम एक इंजीनियर के रूप में नहीं बल्कि एक प्रख्यात अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री के रूप में सम्मानित होगा।

परेटो द्वारा लिखित प्रख्यात कृतियां निम्न हैं— *Cours d' Economic politique* (Lausanne, Vol. I, 1896; Vol. II. 1897), *Les Su' Systemes Socioloistes* (Paris, 1903), *Manuale d' Economia Politica* (Milan, 1906), *Trattato d' Sociologiagenerale* (Paris and Lausanne, 1919, translated as 'Mind Society', 4 Vols, New York, 1935)

परेटो अपने पिता के मानवतावादी और आदर्शवादी विचारों से सहमत नहीं थे। वह फासिज्म के प्रचारक थे। कुछ लोग इनको फासिज्म का पेगम्बर भी मानते हैं किन्तु परेटो के मुक्त व्यापार सम्बन्धी विचारों से तत्कालीन सरकार सन्तुष्ट नहीं हुई। इस कारण परेटो को सार्वजनिक जीवन से मुक्त होना पड़ा। साथ ही साथ वह इस अनुभव पर पहुंचा कि अच्छे कार्य केवल शक्ति द्वारा ही किये जा सकते हैं।

परेटो मूल रूप से अर्थशास्त्री था किन्तु समाजशास्त्र को भी परेटो की काफी देने है। परेटो की रचना 'ट्रिटाइज आफ सिसियोलाजी' को समीक्षकों ने एक महत्वपूर्ण रचना माना है। इसका श्री आर्थर लिविंगस्टन ने मस्तिष्क और समाज के नाम से अंग्रेजी में अनुवाद किया है जो 1935 में चार खण्डों में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के द्वारा परेटो के भावों का ज्ञान होता है। परेटो ने अपने से पहले के विचारकों की रचनाओं को भावुक आचारशास्त्र बतलाया है तथा उन सिद्धान्तों की परीक्षात्मक जांच भी की है। परेटो समाजशास्त्र को एक पूर्ण विज्ञान बनाने की सोचते थे। इस ही कारण परेटो ने तर्क परीक्षण मूलक का प्रचार किया। इस परीक्षण द्वारा सत्य को उच्च कोटि तक पहचाना जा सकता था।

परेटो का समाजशास्त्र के विकास और समाज विज्ञानों को आगे बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अर्थशास्त्र में उन्होंने राजनितिक अर्थशास्त्र को उँचाइयों पर पहुँचाया। इसका एक मैन्युअल भी तैयार किया। गणितशास्त्र में उन्होंने गणितीय साम्यानुकूलन के सिद्धान्त को बनाया। उन्होंने गणितशास्त्र और अर्थशास्त्र पर जितना भी लिखा सिर्फ इसका उद्देश्य यह था कि इन विषयों को वैज्ञानिक रूप प्रदान करना या वैज्ञानिक स्तर पर रखना। परेटो को यह मानना था कि अर्थशास्त्र एक निश्चित और प्रत्यक्षवादी समाजविज्ञान है। समाजशास्त्र को आगे बढ़ाने में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। इसीलिए परेटो को अग्रणी

सामाजिक विचारक माना जाता है उनका समाजशास्त्र को योगदान दो क्षेत्रों में अग्रणी है:

(1) समाजशास्त्र की वैज्ञानिक अवधारणा

(अ) तार्किक क्रिया

(ब) अतार्किक क्रिया

(स) विशिष्ट चालक

(द) भ्रान्ततर्क

(2) अभिजन वर्ग का परिभ्रमण

पैरेटो का समाजशास्त्र को अनन्य योगदान है । यहाँ हम केवल उपरोक्त दो तरह के योगदान की ही चर्चा करेंगे ।

13.3 चक्रीय सिद्धान्त या अभिभ्रमण

समाज में हमेशा विभिन्नता रहती है कोई निम्न वर्ग और कोई उच्च वर्ग में रहता है कोई ठिगना कोई लम्बा , कोई गोरा है तो कोई सांवला , कोई अमीर है तो कोई गरीब कोई प्रखर बुद्धि है तो कोई मंद बुद्धि । मतलब है , शारीरिक , भौतिक , बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से प्रत्येक समाज में विभिन्नता होती है । यह संभव है कि किसी समाज में विभिन्नता बहुत तीव्र होती है और किसी में न्यून । लेकिन विभिन्नता का स्तर रहता ही है ।

पैरेटो ने अभिजन के चक्रीय सिद्धान्त को रखा है । लेकिन यह उनका केवल कोई एक सिद्धान्त हो ऐसा नहीं है उनके सिद्धान्तों में कुछ और महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं उदाहरण के लिये उन्होंने सामुदायिक उपयोगिता फासीवाद आदि के कतिपय सिद्धान्त भी हैं । इन सिद्धान्तों में अभिजन का चक्रीय सिद्धान्त बहुत चर्चित रहा है । पैरेटो मूलरूप से मुसोलिनी, मेकियावेली के विचारधारा से प्रभावित रहे थे । मुख्य रूप से वह फासीवादी थे । यदि उनके सिद्धान्तों को किसी एक गठरी में बाँध दिया जाय तथा उसको पहचानने के लिए कोई चिन्ह लगाने हो तो उस पर लिखा दिया जाना चाहिए:फासीवाद ।

पैरेटो ने अभिजन को परिभाषित किया है । वे व्यक्ति जो समाज के किसी एक निश्चित क्षेत्र में विद्वान होते हैं । अभिजन कहलाते हैं । समाज के कई महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं— कला , साहित्य, धर्म , व्यवसाय आदि । इन क्षेत्रों में कई व्यक्ति अभिजन होते हैं और लोगों की तुलना में अभिजन अधिक विशेष होते हैं । उदाहरण के रूप में कला में माधुरी दीक्षिति ,लता , अमिताभ बच्चन आदि । हिन्दी साहित्य में रामाचन्द्र शुक्ल, महादेवी बर्मा ,प्रेमचन्द्र अभिजन हैं । व्यावसायिक क्षेत्र में टाटा, अजीम प्रेम जी, बिडला आदि अभिजन हैं समाज के विभिन्न क्षेत्रों में यदि अभिजन कि तालिका बनायी जाय तो उसका आकार थोड़ा बृहद होगा । कुछ अभिजन को विवादास्पद भी समझा जा सकता है । अभिजन सभी क्षेत्रों में हैं लेकिन पैरेटो ने केवल प्रशासनिक अभिजन को उल्लेख किया है । अब वे अभिजन के चक्रीय सिद्धान्त की बात करते हैं तब उनका तात्पर्य राज करने वाले

या शासन करने वाले अभिजनों से है। उनका कहना है कि समाज पर शासन तो अभिजन ही करते हैं। लेकिन अभिजन वर्ग बन्द नहीं है। जो आज शासन करने वाले हैं, कल उन्हें धकेल दिया जाएगा और उनका स्थान नये अभिजन ले लेंगे। समाज में अभिजन का यह चक्र चलता ही रहता है। अभिजन का काम समाज को चलाना है, दूसरे शब्दों में, समाज अभिजन द्वारा ही संचालित होता है। हर युग और हर देश में समाज का सूत्रधार अभिजन ही रहा है। उसकी अंगुलिया की गति समाज को नचाती है। लोग तो बस अभिजन के संकेत पर ही सांस लेते हैं। और सांस छोड़ते हैं। समाज की इस बुनियादी धारणा के बाद पैरेटो चक्रीय सिद्धान्त रखते हैं।

अभिजन के प्रकार – अभिजन वो लोग हैं जो सामान्य लोगों की तुलना में अधिक विद्वान होते हैं। कुशल होते हैं और किसी काम को पूर्ण करने की क्षमता रखते हैं। कार्य तो सभी करते हैं परन्तु अभिजन का कार्य दूसरों से श्रेष्ठ होता है। उनका सिद्धान्त है कि बड़ी उम्र के नेता धीरे-धीरे बदनाम होते जाते हैं, उनकी शाख गिरने लगती है और वे नये खून के लिये अपना स्थान छोड़ना प्रारम्भ करते हैं। इस तरह के परिवर्तन से समाज की व्यवस्था अपने आप बनी रहती है।

मिचेल्स की तरह पैरेटो ने सम्पूर्ण अभिजन में दो वर्गों को पाया :-

- प्रशासनिक वर्ग
- गैर प्रशासनिक वर्ग

इन दोनों वर्गों में चक्र की तरह पुराने लोग जाते हैं और नये लोग या अभिजन आते हैं। इस भाँति अभिजन के चक्रीय सिद्धान्त का मूल रूप यह है कि प्रशासनिक अभिजन कमजोर हो जाते हैं या उन्हें कमजोर कर दिया जाता है और उनका स्थान नये अभिजन ले लेते हैं। यह चक्र है। इस कई बार अभिजन का परिभ्रमण भी कहते हैं।

इन दो वर्गों में दो तरह के अभिजन होते हैं। एक अभिजन को पैरेटो लोमड़ी कहते हैं। लोमड़ी से उनका तात्पर्य उन अभिजनों से है जो चालाक, छल, कपट करते हैं। जब पैरेटो लोमड़ी शब्द का प्रयोग करते हैं। तब उनका तात्पर्य ऐसे लोगों से है जो चालक और कपटी हैं। संस्कृत साहित्य में हितोपदेश की कहानियाँ वस्तुतः जानवारों से जुड़ी कहानियाँ हैं। इन जानवारों में लोमड़ी सबसे अधिक चालाक समझी जाती है एक कहानी में जब ब्राह्मण पिंजरे में बन्द शेर का मुक्त कर देता है तो शेर उसी ब्राह्मण को खाने को उतावला हो जाता है। यहाँ लोमड़ी को निर्णायक बनाया जाता है। और लोमड़ी की चतूराई देखने लायक थी की वह शेर को पुनः पिंजरे में बंद देखना चाहती है जिससे उसे विश्वास हो सके कि इतना बड़ा शेर पिंजरे में आ सकता है। उसकी बात को मान कर शेर पिंजरे में प्रवेश करता है और लोमड़ी तुरन्त पिंजरे का दरवाजा बन्द कर देती है क्योंकि लोमड़ी, चतुर और चालक थी।

कुछ ऐसे ही अभिजन भी होते हैं जो सत्ता प्राप्त करने के लिए उल्टे-सुल्टे रास्तों अपनाते हैं वे सत्ता सुख भोगने अभिजन को धकेल देते हैं । वह अभिजन जो सभा में है जिसके पास शक्ति है उन्हें पैरेटो शेर कहते हैं । शेर की एक खासियत है । उसे जो कुछ सत्ता मिलती है उस पर वह कुण्डली मारकर बैठ जाता है। सत्ता के सिंहासन पर बैठे हुए ये अभिजन वास्तव में नर-नाहर होते हैं। और वे अपनी पूरी ताकत को लागकर अपनी सत्ता को बनाये रखना चाहता है।

पैरेटो के अनुसार लोमड़ी और शेर दोनो ही अभिजन वर्ग में हैं । दोनो ही सत्ता को पाने को तत्पर रहते हैं। अभी शेर सत्ता में है और थोड़े समय बाद चालक लोमड़ी अभिजन उसे सत्ता से धकेल देते हैं। पैरेटो का यही चक्रीय सिद्धान्त है। यही अभिजन का परिभ्रमण है। अभिजन की नियति एक ही है। शेर हो या लोमड़ी दोनो को एक दूसरे के लिये सिंहासन छोड़ना पड़ेगा । इस चक्रीय सिद्धान्त का मूल यह है कि समाज पर हुकूमत तो अभिजन की ही होगी । चाहे ये अभिजन आज के शेर हो या कल कोई लोमड़ी।

बोध प्रश्न 1

1. पैरेटो ने सम्पूर्ण अभिजन में दो वर्गों को पाया

(क) प्रशासनिक वर्ग

(ख).....

2. पैरेटो मूल रूप से थे

13.4 सारांश—

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पैरेटो द्वारा चक्रीय सिद्धान्त के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया गया है कि समाज में सत्ता और शासन अभिजन वर्ग का ही रहता है। पैरेटो कि अनेको कृतियों में से एक **माइन्ड एण्ड सोसायटी** प्रसिद्ध रही । उन्होंने समाजशास्त्र को अनेको योगदान दिये उनमें से कुछ मुख्य हैं जैसे समाजशास्त्र अ-तार्किक क्रियाओं का अध्ययन करता है, और यह कि हमें समाज को तार्किक प्रयोगात्मक बनाना होगा।

13.5 संदर्भ सूची

James Alexander, Vilfredo Pareto: The Karl Marx of Fascism, 2009

V. Pareto, Cours d'Economie Politique. Droz, Geneva, 1896.

हारालाम्बोस एम0, (1998), सोशियोलोजी : थीम्स एण्ड प्रर्सपेक्टिव, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली

टर्नर, जे0 एच0, (1916) स्ट्रक्चर आफ सोशियोलोजिकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन,
जयपुर

13.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

-
1. गैर प्रशासनिक वर्ग
 2. अर्थशास्त्री

इकाई 14 : सामाजिक क्रिया— तार्किक एवं अतार्किक (Social Action-Logical and Non-Logical)

इकाई की रूपरेखा**14.0 उद्देश्य****14.1 प्रस्तावना****14.2 समाजशास्त्र एक तार्किक—प्रयोगात्मक विज्ञान****14.3 सामाजिक क्रिया : तर्कसंगत क्रिया एवं अतर्कसंगत क्रिया****14.4 सारांश****14.5 पारिभाषिक शब्दावली****14.6 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर****14.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची****14.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री****14.9 निबंधात्मक प्रश्न**

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा—

- समाज के भीतर होने वाली सामाजिक क्रिया को बताना।
- समाजशास्त्र को तार्किक प्रयोगात्मक विज्ञान के रूप में विवेचना करना,
- परेटो की तार्किक व अतार्किक क्रिया की व्याख्या करना,
- विशिष्ट व भ्रान्त तर्कों की समाज में अवधारणा को समझना तथा
- समाज में वस्तुनिष्ठ व व्यक्तिनिष्ठ क्रिया को समझना।

14.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई खंड में हमने विलफ्रेडो परेटो का समाजशास्त्र में कुछ योगदानों की विस्तार से चर्चा की गई है। जिसमें सामाजिक क्रिया— तार्किक व अतार्किक की सविस्तार उदाहरण सहित देकर समझाया गया है। परेटो के अनुसार प्रत्येक सामाजिक घटना के दो पहलू हो सकते हैं। पहला पहलू यह है कि जैसाकि घटना वास्तव में है और दूसरे पहलू में वह घटना किसी व्यक्ति विशेष के मस्तिष्क में अंकित है। प्रथम वस्तुनिष्ठ है व दूसरी व्यक्तिनिष्ठ है। और अधिक स्पष्ट रूप में, प्रत्येक सामाजिक क्रिया के दो पक्ष होते हैं— लक्ष्य और साधन। हम किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ साधनों का प्रयोग करते हैं, लेकिन ये साधन किस प्रकार के होंगे या इनकी प्रकृति कैसी होगी यह उन कार्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है जिन्हें हम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए काम में लेते हैं। परेटो के मतानुसार वे कार्य जिनका आधार वस्तुनिष्ठ है, तर्कसंगत क्रियाएं

कहलाती हैं जबकि जिन क्रियाओं का आधार व्यक्तिनिष्ठ है, उन्हें हम अतर्कसंगत क्रिया कहते हैं। इसी के साथ विशिष्ट व भ्रान्त तर्क की अवधारणा को भी इस इकाई में संक्षिप्त रूप से समझाया गया है। अंततः इस इकाई की विषय वस्तु पूर्ण रूप से विल्फ्रेडो परेटो के सिद्धांत सामाजिक क्रिया— तार्किक व अतार्किक केन्द्रित है। जिससे आप तार्किक व अतार्किक क्रिया को भली-भांति समझ सकें।

14.2 समाजशास्त्र एक तार्किक—प्रयोगात्मक विज्ञान

यहां पर हम सबसे पहले समाजशास्त्र एक तार्किक—प्रयोगात्मक विज्ञान को जानेंगे। इटली के प्रमुख सामाजिक विचारक विल्फ्रेडो परेटो का नाम उन प्रमुख विद्वानों में से एक है जिन्होंने समाजशास्त्रीय चिन्तन को व्यवस्थित बनाने तथा उसे एक दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आरम्भ में एक भौतिकविज्ञानी से अर्थशास्त्री तथा बाद में समाजशास्त्री के रूप में परेटो का चिन्तन न केवल बहुमुखी रहा अपितु विभिन्न विज्ञानों के बीच एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किए, उनमें तार्किकता और व्यवहारवाद का एक समन्वय देखने को मिलता है। परेटो ने समाजशास्त्र एक तार्किक—प्रयोगात्मक विज्ञान के बारे में बताया। जिसका विवरण निम्न है—

परेटो का सर्वप्रमुख प्रयास उन साधनों को ज्ञात करता था जिनकी सहायता से मानव—व्यवहारों को प्रभावित करने वाले अतार्किक आधारों की तार्किक दृष्टिकोण से विवेचना की जा सके। परेटो कभी भी वेबलिन तथा उन दूसरे विद्वानों से सहमत नहीं रहे जो मानव—व्यवहारों की विवेचना आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर करना चाहते थे। अपितु, परेटो का विश्वास था कि स्वयं आर्थिक सिद्धांतों की विवेचना समाजशास्त्रीय अवधारणाओं के आधार पर होनी चाहिए। इस दृष्टिकोण के द्वारा मानव व्यवहार से सम्बन्धित उन विशेषताओं को सही ढंग से समझा जा सकता है जिनकी विवेचना करने में आर्थिक विश्लेषण और दूसरे अमूर्त सिद्धांत अपर्याप्त सिद्ध हो चुके हैं। इस सन्दर्भ में परेटो ने स्पष्ट किया कि समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का विकास एक ऐसी तार्किकता पर आधारित होना आवश्यक है जो आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन को सही दिशा दे सके। समाजशास्त्र का रूप क्या हो सकता है? इसे स्पष्ट करते हुए परेटो ने लिखा है कि समाजशास्त्र वह सामाजिक विज्ञान है जिसका मुख्य कार्य व्यक्तियों की अतार्किक क्रियाओं का विश्लेषण करने के लिए एक तार्किक—प्रयोगात्मक आधार प्राप्त करना है। इसलिए समाजशास्त्र में उन प्रेरणाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए जो सामाजिक जीवन के एक साधन के रूप में लोगों की अतार्किक क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। यही कारण है कि अन्य विद्वानों ने परेटो के समाजशास्त्र को 'मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्र' के नाम से सम्बोधित किया है।

वास्तविकता यह है कि परेटो ने जिन अवधारणाओं की सहायता से समाजशास्त्रीय चिन्तन को एक नया रूप देने का प्रयत्न किया, उनमें

मनोवैज्ञानिक तत्वों का कुछ सीमा तक समावेश अवश्य है लेकिन मूल रूप से उनके समाजशास्त्र को 'समन्वयात्मक समाजशास्त्र' ही कहा जा सकता है। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समन्वयात्मक है कि केवल इसी के द्वारा मानव व्यवहार को प्रभावित करने वाले उन आधारों को समझा जा सकता है जिनका अध्ययन अन्य सामाजिक विद्वानों द्वारा करना संभव नहीं है। इसके पश्चात भी विभिन्न सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र से इसलिए सम्बन्धित हैं कि वे अपने-अपने अध्ययनों द्वारा विभिन्न कारकों के प्रभाव को जानने में समाजशास्त्र की सहायता कर सकते हैं तथा स्वयं भी समाजशास्त्रीय अवधारणाओं से लाभ उठा सकते हैं। इस प्रकार परेटो समाजशास्त्र के रूप में एक ऐसे विज्ञान को विकसित करना चाहते थे जिसमें विभिन्न प्रकार की सामाजिक घटनाओं की समानताओं के आधार पर तार्किक सिद्धांतों को विकसित किया जा सके। इस प्रकार परेटो ने अपने समाजशास्त्र को 'तार्किक प्रयोगात्मक विज्ञान' का नाम दिया। क्योंकि इसे एक विज्ञान के रूप में तार्किक प्रयोगात्मक पद्धति की सहायता से ही विकसित किया जा सकता है।

परेटो से पूर्व अनेक विद्वानों ने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए भौतिक विज्ञानों की पद्धति को अपनाने पर बल दिया था लेकिन परेटो ने अपनी पुस्तक *'ट्रीटीज ऑन जनरल सोशियोलॉजी'* में काम्ट, स्पेन्सर तथा अनेक दूसरे विद्वानों द्वारा बतलायी गयी पद्धतियों को अस्वीकार किया। परेटो का स्पष्ट मत था कि जिन पद्धतियों की सहायता से भौतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु का अध्ययन किया जाता है, उनका उपयोग समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए उपयुक्त नहीं है। वैज्ञानिक समाजशास्त्र के लिए जिस पद्धति की आवश्यकता है, वह निरीक्षण वस्तुनिष्ठ अनुभवों तथा इनके आधार पर निकाले गए तर्कपूर्ण निष्कर्षों से सम्बन्धित होना चाहिए। वास्तव में, समाजशास्त्र एक समन्वयात्मक विज्ञान है, अतः इससे सम्बन्धित अध्ययन अवलोकन, परीक्षण व निरीक्षण पर आधारित होना आवश्यक है। परेटो ने इस अध्ययन-पद्धति को 'तार्किक प्रयोगात्मक पद्धति' का नाम दिया। जिसे आप यहा जान गये होंगे।

परेटो द्वारा प्रयुक्त इटैलियन शब्द 'एक्सपेरिएन्जा' का तात्पर्य विशुद्ध रूप में किये जाने वाले प्रयोगों से न होकर अवलोकन तथा आवश्यकता होने पर उस नियंत्रित अवलोकन से है जिसकी सहायता से प्राप्त परिणामों को तार्किक रूप से प्रमाणित किया जा सके। इस प्रकार तार्किक-प्रयोगात्मक वह पद्धति है जो अवलोकन पर आधारित प्रयोगों को महत्व देती है तथा उनसे प्राप्त परिणामों को तर्क द्वारा प्रमाणित करने की क्षमता रखती है। परेटो के अनुसार तर्क का तात्पर्य यह है कि अवलोकन के आधार पर विभिन्न घटनाओं के बीच जो सहसम्बन्ध पाया जाता है, उससे प्राप्त होने वाले परिणामों को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया जाये। प्रयोगात्मक शब्द में अवलोकन तथा प्रयोग दोनों की विशेषताओं का समावेश है। प्राकृतिक विज्ञान इसलिए प्रयोगात्मक होते हैं क्योंकि इनसे सम्बन्धित अवधारणाएं प्रयोगों के द्वारा ही विकसित की जा सकती हैं। इनसे भिन्न,

समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए नियंत्रित अवलोकन को ही प्रयोग का पूरक माना जा सकता है। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र के लिए तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा प्रयोगसिद्ध समानताओं अथवा विभिन्न तथ्यों के बीच रहने वाले नियमित सम्बन्धों को ज्ञात किया जा सके।

अतः स्पष्ट किया कि समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में तभी विकसित किया जा सकता है कि जब अनुभव के आधार पर विभिन्न सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाए, निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा तथ्यों की परीक्षा की जाए एवं विभिन्न तथ्यों के बीच पाए जाने वाले समानताओं के आधार पर तार्किक नियमों का निर्माण किया जाय। आप यहा उपर्युक्त विषयक से भली भांति परिचित हो गए होंगे।

14.3 सामाजिक क्रिया – तर्कसंगत एवं अतर्कसंगत क्रिया

आइये सबसे पहले सामाजिक क्रिया को जानने का प्रयास करते हैं। आखिर सामाजिक क्रिया क्या है? कोई भी व्यवहार जो किसी उद्देश्य प्राप्ति के लिए किया जाता है वह सामाजिक क्रिया है। अगर उद्देश्य नहीं है तो वह सामाजिक क्रिया नहीं है। क्रियाएं अनेक प्रकार की हो सकती हैं। लेकिन हमारा यहा सम्बन्ध सामाजिक क्रिया से है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। आवश्यकता पूर्ति के लिए उसे अन्य व्यक्तियों से सहारा लेना होता है, साधन जुटाने होते हैं, अन्य व्यक्तियों के संदर्भ में व्यवहार करना होता है। जिसके फलस्वरूप सामाजिक क्रिया अस्तित्व में आती है। सामाजिक क्रिया के लिए कर्ता, परिस्थित व प्रेरणा का होना आवश्यक है। मैक्स वेबर लिखते हैं कि, सामाजिक क्रिया वह क्रिया है जिसमें कर्ता या कर्ताओं के द्वारा लगाये गये प्रातीतिक अर्थ के अनुसार दूसरे व्यक्तियों के मनोभाव एवं क्रियाओं का समावेश हो और उन्ही के अनुसार उनकी गतिविधि हो। एवं पारसनस कहते हैं कि सामाजिक क्रिया कर्ता कि परिस्थिति व्यवस्था में वह प्रक्रिया है जिसका अकेले कर्ता के लिए अथवा सामूहिक रूप में उस समूह के व्यक्तियों के लिए प्रेरणात्मक महत्व होता है। सामाजिक क्रिया के आवश्यक तत्वों में कर्ता, लक्ष्य, परिस्थित व प्रेरणा का होना आवश्यक है। अतः आप यहा सामाजिक क्रिया से भली भांति परिचित हो गए होंगे। आइए अब हम परेटो की सामाजिक क्रिया को जानने का प्रयास करते हैं।

परेटो ने अपने अध्ययन में समाज में पाई जाने वाली मानवीय क्रियाओं का वर्गीकरण दो भागों में किया है।—

अ) तर्कसंगत क्रिया (Logical Action) तथा

ब) अतर्कसंगत क्रिया (Non-Logical Action)।

परेटो ने तार्किक व अतार्किक क्रियाओं का उल्लेख किया है, उनके अनुसार अतार्किक क्रिया विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। परेटो के विचार में इस प्रकार का वर्गीकरण अत्यन्त ही आवश्यक है। आपने इन दोनों प्रकार की क्रियाओं

को दो आधारों में बांटा है। परेटो के मतानुसार तर्कसंगत क्रियाओं का आधार सामान्यतः वस्तुनिष्ठ होता है। जबकि अतर्कसंगत क्रियाओं का आधार व्यक्तिनिष्ठ होता है। इस कारण तर्कसंगत और अतर्कसंगत क्रिया को समझने से पहले वस्तुनिष्ठ तथा व्यक्तिनिष्ठ का अर्थ समझ लेना उचित होगा।

परेटो का कथन है कि प्रत्येक सामाजिक घटना के दो पहलू हो सकते हैं—

- 1) जैसा कि घटना वास्तव में है
- 2) जैसी कि वह किसी व्यक्ति विशेष के मस्तिष्क में अंकित है।

प्रथम प्रकार की घटना को परेटो ने वस्तुनिष्ठ तथा द्वितीय को व्यक्तिनिष्ठ कहा है। आपका कथन है कि इस प्रकार का विभाजन बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि एक केमिस्ट को जोकि अपनी प्रयोगशाला में प्रयोगात्मक क्रिया में व्यस्त है, और एक उस व्यक्ति जो जादू की क्रिया दिखा रहा है, एक ही श्रेणी के अन्तर्गत रखना या मान लेना कदापि उचित न होगा। प्रथम व्यक्ति की क्रिया का आधार वस्तुनिष्ठ है, इसलिए वह वैज्ञानिक है। जबकि दूसरा व्यक्ति केवल व्यक्तिनिष्ठ आधारों पर कार्य करता है। इसलिए वह वैज्ञानिक नहीं है परेटो के अनुसार वस्तुनिष्ठ तथा व्यक्तिनिष्ठ आधारों का भेद महत्वपूर्ण, उपयोगी तथा उचित है; फिर भी इन दोनों के बीच कोई दृढ़ विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं है।

परेटो ने वस्तुनिष्ठ तथा व्यक्तिनिष्ठ आधारों का भी स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि प्रत्येक सामाजिक या व्यक्तिगत क्रिया के दो पक्ष होते हैं— लक्ष्य और साधन। हम किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ साधनों का प्रयोग करते हैं; परन्तु ये साधन किस प्रकार के होंगे या उनकी क्या प्रकृति होगी यह उन कार्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है। जिन्हें कि हम लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए काम में लाते हैं। जैसे— कुछ ऐसे कार्य होते हैं जोकि लक्ष्य तथा साधन दोनों के ही दृष्टि से उचित होते हैं दूसरे शब्दों में, ऐसे कार्य ठीक तथा अनुभवसिद्ध होते हैं एवं तार्किक आधार पर लक्ष्य और साधन के बीच सामंजस्य स्थापित करते हैं। इस प्रकार के यथार्थ तथा तर्कयुक्त कार्यों को वस्तुनिष्ठ कहते हैं। इसके विपरीत, ऐसे भी कार्य होते हैं जिनमें लक्ष्य और साधन के बीच तार्किक संगति का अभाव होता है, अर्थात् ऐसे कार्य जोकि यथार्थ, अनुभवसिद्ध तथा तर्कसंगत नहीं होते हैं, उनको व्यक्तिनिष्ठ कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि परेटो के मतानुसार वे कार्य, जिनका आधार वस्तुनिष्ठ है, तर्कसंगत क्रिया हैं और वे कार्य, जिनका कि आधार व्यक्तिनिष्ठ है। अतर्कसंगत क्रिया हैं।

इस प्रकार “परेटो के लिए क्रिया की प्रमुख विशेषता तर्क के साथ उसका सम्बन्ध है।” इस कथन के अनुसार, प्रत्येक क्रिया का एक तार्किक आधार होता है। यह जरूरी नहीं है कि यह तार्किक आधार सर्वमान्य या सबके द्वारा स्वीकृत या प्रयोगसिद्ध ही हो। हो सकता है कि क्रिया को करने वाला कर्ता के अपने दृष्टिकोण से उस क्रिया का कोई तार्किक आधार हो और उसी तार्किक आधार

पर वह अपनी क्रिया का औचित्य दर्शाने का प्रयत्न करें। परेटो ने इसे ही 'भ्रान्त-तर्क' की संज्ञा दी है। इसके विपरीत, यह भी हो सकता है कि एक क्रिया का तार्किक आधार इस प्रकार का हो जोकि वास्तव में प्रयोगसिद्ध हो। और भी स्पष्ट रूप में, ऐसी अनेक क्रियाएं होती हैं। जिनके लक्ष्य तथा साधन के बीच सामंजस्य होता है उसे तर्क के आधार पर वास्तव में समझाया जा सकता है, परन्तु ऐसी भी क्रियाएं होती हैं जिनके लक्ष्य तथा साधनों के बीच पाए जाने वाले तथाकथित सामंजस्य को उन क्रियाओं को करने वाला कर्ता अपने तर्क द्वारा समझा तो अवश्य ही देता है परन्तु वह तर्क वास्तव में भ्रान्त-तर्क ही होता है। इस प्रकार क्रिया का संबंध तर्क से होता अवश्य ही है, चाहे वह तर्क प्रामाणिक तर्क हो या भ्रान्त तर्क। जब एक क्रिया प्रामाणिक तर्क (अर्थात् ऐसा तर्क जो केवल कर्ता के दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन् उस विषय में अधिक व्यापक ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों की दृष्टिकोण से सही है) से संबंधित होती है। तो उसे तर्कसंगत क्रिया कहते हैं, और जब क्रिया केवल एक ऐसे तर्क से संबंधित है जोकि केवल कर्ता की दृष्टिकोण से उचित है तो उसे अतर्कसंगत क्रिया कहेंगे। इसलिए परेटो के मतानुसार क्रिया की किसी भी विवेचना व विश्लेषण में हमें उसके अन्तर्निहित तर्क के सम्बन्ध में सचेत रहना चाहिए और यह देखना चाहिए कि किस प्रकार के तर्क से वह क्रिया सम्बन्धित है, क्योंकि इसी के आधार पर क्रिया की वास्तविक प्रकृति अर्थात् वह व्यक्तिनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ है, यह जानना हमारे लिए सम्भव व सरल होगा। वैसे तो प्रत्येक कर्ता के द्वारा निरन्तर यही प्रयत्न होता रहता है कि वह अपने कार्य या क्रिया को इस भांति सम्पन्न करें कि वह अधिक-से-अधिक मात्रा में वस्तुनिष्ठ ही प्रतीत हो, चाहे वास्तव में वह वैसा भले ही ना हो। क्रिया की प्रक्रिया में तर्क का सर्वप्रमुख कार्य एक क्रिया-विशेष के औचित्य को प्रमाणित करना होता है। इस प्रमाण का आधार सदैव वस्तुनिष्ठ ही होगा, इसकी कोई निश्चितता नहीं होती। व्यक्तिनिष्ठ आधारों पर भी क्रिया का औचित्य प्रमाणित किया जा सकता है।

इस प्रकार परेटो के अनुसार, मानवीय क्रियाएं तर्कसंगत हो सकती हैं औ अतर्कसंगत भी। तर्कसंगत क्रिया ही वास्तव में प्रामाणिक होती हैं। क्योंकि इस प्रकार की क्रियाएं निरीक्षण और अनुभव के क्षेत्र में अन्तर्गत होती हैं। इसीलिए तर्कसंगत क्रियाएं विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं, जबकि अतर्कसंगत क्रियाएं काल्पनिक होने तथा निरीक्षण औ अनुभवसिद्ध न होने के कारण विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आती हैं, यद्यपि इनका अध्ययन विज्ञान द्वारा होता है।

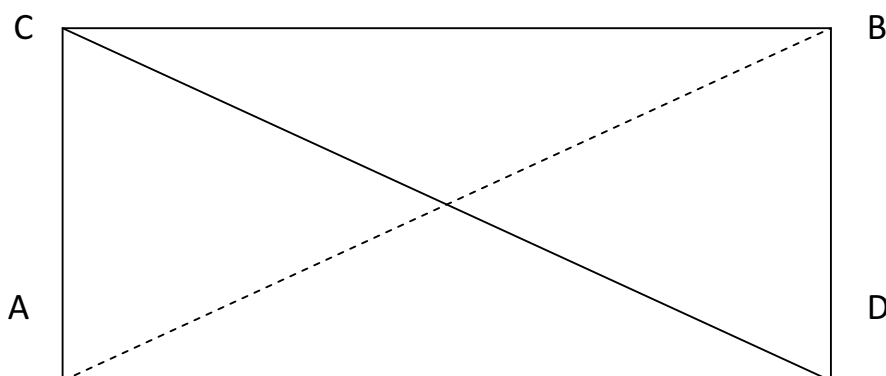
उक्त लिखित विवेचना से यह स्पष्ट है कि परेटो के अनुसार, "केवल वे क्रियाएं तर्कसंगत हैं, जोकि तर्कपूर्ण रीति से साधन को लक्ष्य के साथ जोड़ती हैं, केवल उस कर्ता की दृष्टि से नहीं जो उस क्रिया को करता है बल्कि उन अन्य व्यक्तियों की दृष्टि से भी जो उसके विषय में अधिक व्यापक ज्ञान रखते हैं।"

परेटो के अनुसार मानव-क्रियाओं के संबंध में एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि सर्वत्र और सभी कालों में तर्कसंगत क्रियाओं का नहीं,

बल्कि अतर्कसंगत क्रियाओं का ही बोलबाला रहा है। दूसरे शब्दों में, मानव की अधिकतर क्रियाएं अतर्कसंगत होती हैं। ये क्रियाएं तर्क से नहीं बल्कि एक विशिष्ट मानसिक अवस्था से उत्पन्न होती हैं। इसीलिए उस क्रिया को करने वाला उस क्रिया के पक्ष में अनेक युक्तियां पेश करता है तथा उसे उचित प्रमाणित करने का प्रयत्न करता रहता है। उदाहरणार्थ, सामाजिक निषेध को ही लिया जा सकता है। इस प्रकार के निषेध विशिष्ट मानसिक अवस्था की ही उपज होते हैं। साथ ही, वे निषेध उचित हैं, इसे प्रमाणित करने के लिए ईश्वरीय आज्ञा से लेकर पौराणिक गाथा तक का सहारा लिया जाता है। परन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी निषेध तर्कसंगत नहीं होता। तार्किक रूप में इन निषेधों की व्याख्या नहीं की जा सकती है। परन्तु परेटो के मतानुसार इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि इस प्रकार के निषेध या अन्य अतर्कसंगत क्रियाएं आवश्यक रूप में बेकार तथा अनुपयोगी ही होती है। एक निषेध का समुदाय-विशेष में महत्वपूर्ण स्थान तथा कार्य हो सकता है; जबकि वही निषेध दूसरे समाज या समुदाय के लिए निरर्थक और हानिकारक भी हो सकता है। एक समुदाय-विशेष में कोई सामाजिक निषेध तब पनपता है जबकि किसी कार्य के प्रति उस समुदाय के लोगों का घृणा-भाव हो और वे उस कार्य को उचित और अच्छा न मानते हों। इस कारण इस प्रकार के सामाजिक निषेधों को केवल सामूहिक अभिमति प्राप्त होती है; वे तर्कसंगत नहीं भी हो सकते हैं और बहुधा होते भी नहीं है। परन्तु इनको मानने वाले तथा इन्हें लागू करने वाले सभी लोग इनके पक्ष में अनेक तर्कों को प्रस्तुत करते हैं, ताकि उनके अतार्किक रूप छिप जाएं या उस विषय में लोग कुछ अनुमान न लगा सकें। परेटो के लिए सामाजिक जीवन की सम्पूर्ण घटना समीकरणों की वह शृंखला है जिनमें कि उस समाज के लोग अपनी अतर्कसंगत क्रियाओं की तर्कसंगत क्रियाओं की वेशभूषा पहनाकर इस प्रकार प्रस्तुत करने का उत्कट प्रयास करते हैं कि उनकी क्रियाओं का अतर्कसंगत रूप भी उन्हें तथा दूसरों का तर्कसंगत लगने लगे। तार्किक व अतार्किक क्रिया के सामने मानव के समक्ष तीन प्रकार की समस्याएं आती हैं। पहली यह है कि लक्ष्य व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों हो सकते हैं। लक्ष्य के ज्ञान के अभाव में साधन को तार्किक व अतार्किक समक्षना एक कठिन कार्य है। दूसरी यह है कि जब लक्ष्य का संबंध पारलौकिक हो तब तो जानना और भी कठिन हो जाता है कि लक्ष्य व साधन के बीच उचित संबंध है या नहीं। तीसरा यह है कि उचित व अनुचित कार्यों का पता लगाना भी एक कठिन कार्य है क्योंकि एक कार्य जो एक के लिए उचित है हो सकता है कि वह दूसरे के लिए अनुचित हो। अतः अन कठिनाइयों के कारण ही मानव समाज में अतार्किक क्रियाओं की प्रधानता रही है। और समाज का अस्तित्व भी इसी पर निर्भर करता है। यहा प्रश्न यह है कि मानव अतार्किक क्रियाएं क्यों करता है। इनके परेटो ने कुछ कारक बताये हैं। जिसमें प्रमुख्यता से भ्रान्त तर्क है। भ्रान्त तर्कों पर आधारित क्रियाएं अतार्किक होती हैं। कुछ ऐसी क्रियाएं होती हैं जिनके लक्ष्य और साधनों को कर्ता अनेक ऐसे तर्कों के आधार पर स्पष्ट कर देता है कि

जो केवल उसी के दृष्टिकोण से उचित है। इस तरह के तर्क को भ्रान्त तर्क कहते हैं। इसके साथ ही चालक, मनोभाव व स्वार्थ आदि है। अतः आप यहा परेटो के सामाजिक क्रिया में तार्किक व आतार्किक को समक्ष गये होंगे।

परेटो द्वारा प्रस्तुत तार्किक तथा अतार्किक क्रिया की अवधारणा को सार रूप में ऐरो द्वारा दिए गए निम्नांकित चित्र की सहायता से समझा जा सकता है।



चित्र नं० : 1— तार्किक तथा अतार्किक क्रिया

प्रस्तुत चित्र में 'A' को 'B' से मिलाने वाली रेखा अतार्किक क्रियाओं को स्पष्ट करती है जबकि 'C' और 'D' को जोड़ने वाली रेखा तार्किक क्रियाओं की प्रकृति को प्रदर्शित करती है। स्पष्ट है कि अतार्किक क्रिया एक ऐसे कर्ता से सम्बन्धित होती है जिसकी मानसिक दशा का हमें कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं होता और इस तरह वह कर्ता विभिन्न प्रकार के सिद्धांतों तथा विचारधाराओं को तोड़-मरोड़ कर अपनी क्रियाओं और सम्बन्धों के औचित्य को प्रमाणित करता है। दूसरी ओर, तार्किक क्रियाओं में कर्ता के व्यवहार तथा उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों के बीच एक तार्किक और स्पष्ट संगति विद्यमान है।

तार्किक तथा अतार्किक क्रियाओं के इस सम्पूर्ण विश्लेषण द्वारा परेटो ने यह स्पष्ट किया कि अतार्किक क्रियाएं भले ही समाज में व्यापक रूप से पायी जाती हो लेकिन यह प्रमाणिक और अनुभवसिद्ध न होने के कारण किसी विज्ञान की अध्ययन-वस्तु नहीं बन सकतीं। समाजशास्त्र स्वयं एक ऐसा विज्ञान है जो तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति के आधार पर ही विकसित हो सकता है। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्रीय अध्ययनों में केवल तार्किक क्रियाओं का ही समावेश होना चाहिए। इसप्रकार आप यहा समाज में क्रियाये से परिचित हो गये होंगे।

बोध प्रश्न-1

i) परेटो द्वारा मानवीय क्रियाओं के वर्गीकरण को बतलाइए।

.....

ii) अतर्कसंगत क्रियाओं को संक्षिप्त में लिखिए?

.....

iii) विशिष्ट चालक क्या है?

.....

vi) 'भ्रांत तर्क' को संक्षिप्त में समझाइए?

.....

v) The mind and society पुस्तक किसकी है?

.....

सत्य असत्य बतलाइए—

vi) परेटो के लिए क्रिया की प्रमुख विशेषता तर्क के साथ उसका सम्बन्ध है।
 (सत्य/असत्य)

खाली स्थान भरिये—

vii) परेटो ने समाजशास्त्र कोका नाम दिया।

viii) जब कोई क्रिया कुछ भ्रान्त तर्कों, भावनाओं अथवा संवेगों पर आधारित होती है तब इसेकहा जाता है।

ix) तार्किक क्रियाओं का आधार होता है।

14.4 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा है कि इटालियन सामाजिक विचारक विलफ्रेडो परेटो की मानवीय क्रियाओं की व्याख्या के बारे में पढ़ा कि मानवीय क्रियाओं को दो भागों में बांटा गया— तार्किक क्रिया एवं अतार्किक क्रिया। जिसमें बताया गया कि तार्किक व अतार्किक क्रिया के दो पक्ष होते हैं— लक्ष्य और साधन। कुछ क्रियाएं ऐसी होती हैं जिनके द्वारा तार्किक आधार पर लक्ष्य और साधनों के बीच एक स्पष्ट सामंजस्य देखने को मिलता है। इन्हीं क्रियाओं को तार्किक/वस्तुनिष्ठ क्रियाएं कहते हैं। वहीं दूसरी ओर अनेक क्रियाएं अथवा मानव व्यवहार इस प्रकार के होते हैं जिनमें लक्ष्य व साधनों बीच कोई तार्किक संगति नहीं होती। यह क्रियाएं भावना प्रधान होती हैं। इसलिए इन्हें अतार्किक क्रिया बताया गया है। इन तार्किक व अतार्किक क्रियाओं द्वारा समाज में मानवीय क्रियाओं को समझाया गया है। और साथ में विशिष्ट चालक जिसमें मूल प्रवृत्तियों और भावनाओं की

अभिव्यक्ति होती है एवं भ्रान्त तर्क जिसमें कर्ता के भ्रान्त विचार तर्क होते हैं को भी स्पष्टतः बताया गया है। परेटो कहते हैं कि अतार्किक क्रियाओं को निरर्थक तथा व्याधिकीय नहीं समझना चाहिये अपितु इनसे तार्किक क्रियाओं के पक्षों को स्पष्ट करना चाहिए। अतः स्पष्ट आप इस इकाई में सामाजिक क्रियाओं के तार्किक व अतार्किक आदि पक्षों को जान गये होंगे।

14.5 परिभाषिक शब्दावली

तार्किक क्रियाएं— तार्किक क्रियाएं वस्तुनिष्ठ होती हैं अर्थात् कर्ता तथा उस विषय का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के मस्तिष्क में जब किसी क्रिया के लक्ष्य और साधनों के बीच एक तार्किक सम्बन्ध स्पष्ट होता है तब ऐसी क्रिया को हम तार्किक क्रिया कहते हैं।

अतार्किक क्रिया— अतार्किक क्रियाओं का आधार भावनात्मक होता है अर्थात् जब कोई क्रिया कुछ भ्रान्त तर्कों, भावनाओं अथवा संवेगों पर आधारित होती है तब इसे अतार्किक क्रिया कहते हैं। अतार्किक क्रिया का तात्पर्य ऐसी सभी क्रियाओं से है जो तार्किकता की परिधि से बाहर होती हैं।

तर्क-निरीक्षण पद्धति— इस पद्धति में परेटो ने दो वस्तुओं पर बल दिया है— तर्क तथा निरीक्षण। परेटो के अनुसार प्रघटना के दो पक्ष होते हैं— वस्तुगत, विषयगत। वैज्ञानिक अध्ययन हेतु निरीक्षण द्वारा वस्तुगत रूप को समझना तथा तर्क द्वारा सामान्यीकरण को जानना आवश्यक है। यह पूर्व धारणाओं का कड़ाई से निषेध करता है।

विशिष्ट चालक (अवशेष)— मूल प्रवृत्तियों और भावनाओं की अभिव्यक्ति है।

भ्रान्त तर्क— भ्रान्त तर्कों पर आधारित क्रियाएं अतार्किक होती हैं। कुछ ऐसी क्रियाएं होती हैं जिनके लक्ष्य और साधनों को कर्ता अनेक ऐसे तर्कों के आधार पर स्पष्ट कर देता है कि जो केवल उसी के दृष्टिकोण से उचित है। इस तरह के तर्क को भ्रान्त तर्क कहते हैं।

14.6 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- परेटो ने समाज में पाई जाने वाली मानवीय क्रियाओं के दो प्रकार अर्थात् तर्कसंगत क्रियाएं एवं अतर्कसंगत क्रियाएं बतलायी हैं।
- अतार्किक क्रियाओं का आधार भावनात्मक होता है अर्थात् जब कोई क्रिया कुछ भ्रान्त तर्कों, भावनाओं अथवा संवेगों पर आधारित होती है तब इसे अतार्किक क्रिया कहते हैं। अतार्किक क्रिया का तात्पर्य ऐसी सभी क्रियाओं से है जो तार्किकता की परिधि से बाहर होती हैं।

iii) विशिष्ट चालक मूल-प्रवृत्तियों और भावनाओं की अभिव्यक्ति है। ये मानव व्यवहार के अपेक्षाकृत अधिक स्थिर पक्ष होते हैं।

iv) कुछ क्रियाएं ऐसी होती हैं जिनके लक्ष्य और साधनों को कर्ता अनेक ऐसे तर्कों के आधार पर स्पष्ट कर देता है जो केवल उसी के दृष्टिकोण से उचित होते हैं। इस तरह के तर्क को परेटो ने 'भ्रान्त तर्क' कहा है। ऐसे तर्कों पर आधारित क्रियाएं ही अतार्किक क्रियाएं होती हैं।

vi) सत्य

vii) तार्किक प्रयोगात्मक विज्ञान

viii) अतार्किक क्रिया

ix) वस्तुनिष्ठ

14.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Francis, Abraham, (1985) *Sociological thought*, Macmillan, India
- Timasheff, Nicholas, and George Theodorson, (1976) *Sociological Theories*, Random house, New York
- Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 & 2, Penguin books, London
- Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*, Allen and unvin, London
- Pareto, Vilfredo, (1916) *The Mind and Society: A treatise on general sociology*, 4 vol., Dover, NY
- हारालाम्बोस एम0, (1998), सोशियोलोजी : थीम्स एण्ड प्रर्सपेक्टिव, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली
- टर्नर, जे0 एच0, (1916) स्ट्रक्चर आफ सोशियोलोजिकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन, जयपुर

14.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat Publication, Jaipur
- Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, polity press, Cambridge
- Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge & Kegan Paul, London
- गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- सिंह जे0 पी0, (2008) *समाजशास्त्र-अवधारणाएं एवं सिद्धान्त*, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

14.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. विलफ्रेडो परेटो द्वारा प्रतिपादित तार्किक व अतार्किक क्रियाओं की समाज में सविस्तार व्याख्या कीजिए।
2. परेटो के विचार में समाजशास्त्र एक तार्किक प्रयोगात्मक विज्ञान है, चर्चा कीजिए।
3. समाज में सामाजिक क्रियाओं के संदर्भ में परेटो के योगदान की विवेचना कीजिए व साथ ही संक्षिप्त में विशिष्ट व भ्रान्त तर्कों को भी समझाइए।